प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

अन्य प्राप्ति-स्थान —

1. राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल, मछुआ-टोली, पटना
2. दिल्ली-ग्रंथागार, चर्खेवालाँ, दिल्ली
3. प्रयाग-ग्रंथागार, ४०, कास्थवेट रोड, प्रयाग

नोट—इनके अलावा हमारी सब पुस्तकें हिंदुस्थान-भर के प्रधान बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें।

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-फाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

पूज्य पिता

को

अपनी बात

हमारी साहित्यिक चेतना की जागृति में, अन्य काव्य-प्रवृत्तियों की अपेक्षा, छायावाद का महत्त्व-पूर्ण स्थान है, किंतु आलोचनात्मक साहित्य के इस उन्नयन-काल में भी उस पर एक भी गवेषणात्मक ग्रंथ नहीं निकला। यद्यपि समय-समय पर, पत्र-पत्रिकाओं में, इस विषय पर स्फुट निबंध प्रकाशित होते रहे हैं, तथापि वे ही यथेष्ट नहीं हैं। इसी अभाव को दृष्टि में रखकर हमने यह विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। विषय की गंभीरता जानते हुए भी हमने उसके प्रतिपादन का दुस्साहस किया है। फिर भी, हमें विश्वास है, साहित्यिकों को हमारा यह शुभ प्रयत्न रुचिकर होगा। इसमें हमें कितनी सफलता मिली है, यह तो सहृदय पाठक ही कहेंगे।

बस, इतना ही।

लक्ष्मीपुर, पो० बिहारीगंज
पूर्णिया
१५।१।४१ ई०

प्रताप साहित्यालंकार

विषय-क्रम

परिशिष्ट—

कुछ अपूर्व साहित्यिक पुस्तकें

साहित्य-पारिजात

लेखक, श्रीपं० शुकदेवविहारी मिश्र और श्रीपं० प्रताप-नारायणजी मिश्र। पदार्थ-निर्णय और अलंकार पर यह अपूर्व पुस्तक है।

ग्रंथ हिंदी-साहित्य के विद्यार्थियों के लिये ही उपयोगी नहीं, वरन् संस्कृत-साहित्य के विद्वानों के लिये भी अवश्य द्रष्टव्य है।

लेखकों के साहित्यिक, आलोचनात्मक लेख जिन्होंने पढ़े हैं, वे ही इस बात का अंदाजा लगा सकते हैं कि उनका इस विषय में कितना गहरा ज्ञान है। मूल्य ४)

देव और बिहारी

लेखक, श्रीयुत कृष्णबिहारी मिश्र। हिंदी-भाषा में देव और बिहारी उच्चतम कोटि के कवि एवं कलाकार माने जाते हैं। इन पर रचनात्मक आलोचना लिखना दुष्कर कार्य है। विद्वान् लेखक ने इस ग्रंथ की रचना बड़ी ही विद्वत्ता-पूर्ण ढंग से की है। आद्यंत पुस्तक पढ़कर पाठक को सुकवि देव की श्रेष्ठता का लोहा मानना ही पड़ेगा। 'बिहारी-दर्शन' और 'देव और बिहारी' दोनो ग्रंथ एक साथ पढ़ने योग्य हैं। पृष्ठ-संख्या ३२०; मूल्य ४॥)

देव-सुधा

संग्रहकार और टीकाकार, मिश्रबंधु। महाकवि देव से चारु चयन। इस पुस्तक में विद्वान् टीकाकार ने मुद्रित तथा अमुद्रित बहुतेरे ग्रंथों से छाँटकर देव के सर्वोत्कृष्ट २७२ छंद रक्खे हैं। आजकल जनता थोड़े में ही अधिक जानने की इच्छा रखती है। इससे थोड़े में ही देव के महान् महत्त्व को दिखलाने का इस पुस्तक में प्रयत्न किया गया है। छंदों का विषय-विभाजन होने से पुस्तक की उपादेयता और अधिक

यह गई है । कठिन शब्दों के अर्थ भी फ़ुटनोट में दे दिए गए हैं । मूल्य २॥)

बिहारी-सुधा

संग्रहकार और टीकाकार, मिश्रबंधु । काव्य-मर्मज्ञ मिश्रबंधुओं ने जैसे महाकवि देव की सर्वोत्तम कविताओं का संग्रह 'देव-सुधा' के नाम से किया है, वैसे ही महाकवि बिहारी के मर्मस्पर्शी दोहों का भी चयन किया है। इस संकलन को विषय-क्रमानुसार रक्खा गया है ।

दोनो संग्रहों को खरीदकर देखिए कि किस कवि में अधिक प्रतिभा है, और हिंदी-संसार के मुक्तक काव्य-रचयिताओं में कौन सर्वश्रेष्ठ ठहरता है ! मूल्य ॥=)

बिहारी-दर्शन

लेखक, श्री लोकनाथ द्विवेदी सिलाकारी साहित्यरत्न । इस ग्रंथ में सरसता का सागर, पांडित्य का पीयूष, काव्य की कलित कौमुदी, भाषा की मधुरता, समालोचना का सौष्ठव, विवेचना का वैभव, व्याख्या की विशदता, मनोभावों की मनोरमता, अनुभावों का आनंद, प्रकृति-वर्णन में पूर्ण पर्यवेक्षण, भक्ति, नीति, गणित, दर्शन, ज्योतिष, राजनीति और मनोविज्ञान की मनोहर मीमांसा का जमघट देखकर आप इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते । मूल्य ४)

हिंदी की सभी पुस्तकों के लिये हमें लिखें—

छायावाद का उद्भव

आज संसार के प्रत्येक क्षेत्र में 'वाद' की प्रचुरता है। साहित्यिक क्षेत्र हो या सामाजिक, राजनीतिक क्षेत्र हो अथवा धार्मिक, सभी में वादों का प्रादुर्भाव होता आया है, और होता रहेगा। हमारी दृष्टि के सम्मुख संप्रति सैकड़ों 'वाद' नाचते हुए दिखाई पड़ते हैं। साहित्य-जगत् में भी अनेक वादों की उद्भावना हुई है। 'वाद' के विषय में यह कहा जाता है कि उसकी अवस्थिति दो दशक वर्ष से अधिक नहीं रहती। उसके उपरांत नवीन वाद का उद्भव होता है। हिंदी-कविता-साहित्य में आज रहस्यवाद, छायावाद, जनतावाद, हालावाद, गीतिवाद, विजयावाद* आदि अनेक 'वाद' दिखाई पड़ते हैं। अब विचार करना है कि 'वाद' है क्या? मानव-जीवन के आगे प्रतिदिन बहुत बड़ी-बड़ी समस्याओं का आगमन होता है। जगत् की वस्तुओं आदि के अवलोकन से

---

* 'विजयावाद' का प्रादुर्भाव भी आधुनिक काल में ही हुआ है। इसके प्रवर्तक का कहना है कि इसकी उत्पत्ति वैदिक काल में हुई। इसका प्रचार कम है। हम 'हालावाद' को इसकी रचना का आधार मानते हैं। 'हालावाद' की, 'मधुबाला' की देखादेखी 'विजयाबाला' आदि की कल्पना की गई है।

मनुष्य के अंतर्जगत् में अनेक प्रकार के गंभीर प्रश्न उठते हैं। इस संपूर्ण सृष्टि के अणु-परमाणु में विचार-निमग्न करने की क्षमता है। जब मनुष्य के सामने एक ही प्रकार की समस्या बार-बार आती है, तब वह उस पर विचार करता है। उसके विचारों का निष्कर्ष ही 'वाद' है। प्रत्येक देश समाज, संप्रदाय तथा परिस्थिति के अनुकूल अनेक वादों की उत्पत्ति करता आया है। 'वाद' आज की वस्तु नहीं। मानव-जीवन की समस्या की अवतारणा का प्रारंभिक काल ही 'वाद' का उद्भवकाल कहा जा सकता है। वास्तव में मानव-जीवन की उलझन ही 'वाद' को उत्पन्न करनेवाली है। प्राचीन समय में वादों का प्रादुर्भाव तथा विनाश इतना शीघ्र नहीं होता था, जितना आज देखने में आता है। उस समय विचार-धारा मंद गति से प्रवाहित होती थी, और उसमें परिवर्तन भी अविलंब नहीं हुआ करता था। इस विज्ञान के युग में जो विचार कल सत्य समझा जाता था, वही आज असत्य-सा प्रतीत होता है। विचार-धारा की परिवर्तनशीलता ही नाना वादों की उत्पादिका है—वे 'वाद' चाहे आंतर्जगत् से संबंधित हों, अथवा अन्य जगत् से।

किसी भी देश की घटना या क्रांति का प्रभाव विश्व के अनेक देश पर पड़ता है। जैसे सरोवर में पत्थर फेंकने से जो हिल्लोर उठता है, वह प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से संपूर्ण सरोवर के जल में फैल जाता है, वैसे ही एक देश की भावना

जाते है। अमेरिका की स्वतंत्रता की घोषणा फ्रांस की क्रांति की उत्प्रेरणा के रूप में सिद्ध हुई। इस क्रांति द्वारा केवल राजनीतिक परिवर्तन ही नहीं हुए, बल्कि जीवन के आदर्शों का भी रूप बदला। सामूहिक ही नहीं, व्यक्तिगत आदर्श भी नवीन रूप धारण कर हमारे सम्मुख आया। प्रजातंत्र, राष्ट्रीयता तथा समाजवाद की भावना को जाग्रत् करने का श्रेय फ्रांसीसी क्रांति को ही दिया जायगा। उसी का परिणाम है, जो जगत् के प्रत्येक कोने में समानता, सहभ्रातृत्व तथा स्वतंत्रता की आवाज गूँज रही है। अमेरिकन क्रांति जैसे फ्रांसीसी क्रांति में सहायक हुई, वैसे ही फ्रांसीसी क्रांति द्वारा सिपाही-विद्रोह को चेतना मिली, जो भारत की स्वतंत्रता की पहली लड़ाई थी। सिपाही-विद्रोह के समय पराधीनता का भार असह्य हो उठा था। अतएव लोगों के हृदय में क्रांति की आग भभकी। क्रांति की यह चेष्टा केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही प्रयत्नशील नहीं थी, बल्कि साहित्यिक, धार्मिक, सामाजिक आदि क्षेत्रों में भी इसका उपक्रम हो रहा था। रीतिकाल (संवत् १७०० से १६०० तक) में शृंगारिक भावना की प्रचुरता रही, जिसमें कलुषित मनोवृत्ति का अत्यधिक मात्रा में सन्निवेश था। शृंगार को लेकर कविता एकांगिनी हो गई थी। कविता का विषय नित नूतन न होकर पुरातन ही बना रहा। रीतिकाल के बाद नवयुग नवआकांक्षा लेकर आया। लोगों की प्रवृत्ति वासना-जनित शृंगार की ओर से विमुख होकर राष्ट्री-

यता की ओर अग्रसर हुई। रीतिकाल की कविता में एकरूपता का दर्शन होता था, उसका इस युग में परिहार हुआ। काव्य-वस्तु में विस्तृति आई, और कवियों ने नए-नए विषय—राष्ट्रीय, सामाजिक, देश प्रेम आदि—अपनाए। इस क्रांति के युग में प्राचीनता से अर्वाचीनता का, रूढ़िवादिता से स्वच्छंदता का, एक-रूपता से अनेकरूपता का, प्रगति-विरोधिता से प्रगतिशीलता का प्रबल विरोध हो रहा था।

सिपाही-विद्रोह का कारण अपनी वर्तमान अवस्था के प्रति असंतोष था, जीवन में नवीन ज्योति की अवतारणा की उत्कंठा
थी। क्रांति की आ [illegible] किंतु वह शासन द्वारा दबा दी
गई। लोगों के ह [illegible] तरंग तरंगित हो रही
थी, वह विषाद [illegible] ई। सिपाही-विद्रोह
की असफलता [illegible] ग को अधिका-
धिक गाढ़ा क [illegible] -प्रतिदिन बढ़ता
ही गया, औ [illegible] ोने लगा—

ही सहायक हुई। तिक्त निराशा तथा क्षोभ ने लोगों का हृदय हताश तथा उद्वेलित कर दिया। क्रांति को दवा देने के वाद उसका लक्षण वाहर एकदम अप्रकट था, किंतु उसकी आग भीतर-ही-भीतर सुलगती रही। राष्ट्रीय भावना में विषाद तथा असंतोष की प्रबलता होने लगी। शोक-विह्वल हृदय को शांति प्रदान करने के लिये देशवासी कभी अपने अतीत की समृद्धि का स्मरण कर रोते थे, कभी वर्तमान की विभीषिका देखकर तड़प उठते थे, और कभी भविष्य की कमनीय कल्पना कर प्रसन्न हो उठते थे। हिंदी-साहित्य में रोमांटिक युग के आगमन का संकेत मिल रहा था। भाषा, भाव तथा शैली में क्रांति की भावना धूमिल रूप से परिलक्षित होने लगी थी।

भारतेंदु आदि ने प्रगति के साथ सहयोग किया, और प्राचीन परंपरा का भी अनुसरण करना न छोड़ा। नवीन और प्राचीन के मध्य मार्ग को ही उन लोगों ने उत्तम समझा। भारतेंदु-काल में शृंगार के विरोध में जिस आंदोलन की सृष्टि हुई थी, वह उसे निर्मूल करने में समर्थ नहीं हो सका। हाँ, यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि तत्कालीन कवियों ने शृंगारिक कविता को विशुद्धता प्रदान की। उसकी भावनाओं में पावनता तथा स्वच्छता का समावेश हुआ, और ऐहिक वासना का निराकरण। श्रद्धा के योग से प्रेम भक्ति की ओर अग्रसर हुआ।

सिपाही-विद्रोह की असफलता से उत्पन्न निराशा तथा विषाद

यता की ओर अग्रसर हुई। रीतिकाल की कविता में एकरूपता का दर्शन होता था, उसका इस युग में परिहार हुआ। काव्य-वस्तु में विस्तृति आई, और कवियों ने नए-नए विषय—राष्ट्रीय, सामाजिक, देश प्रेम आदि—अपनाए। इस क्रांति के युग में प्राचीनता से अर्वाचीनता का, रूढ़िवादिता से स्वछंदता का, एक-रूपता से अनेकरूपता का, प्रगति-विरोधिता से प्रगतिशीलता का प्रबल विरोध हो रहा था।

सिपाही-विद्रोह का कारण अपनी वर्तमान अवस्था के प्रति असंतोष था, जीवन में नवीन ज्योति की अवतारणा की उत्कंठा थी। क्रांति की आग सुलगी, किंतु वह शासन द्वारा दबा दी गई। लोगों के हृदय में उत्साह की जो तरंग तरंगित हो रही थी, वह विषाद के रूप में परिवर्तित हो गई। सिपाही-विद्रोह की असफलता ने उसके हृदय के विषाद के रंग को अधिकाधिक गाढ़ा करने का प्रयत्न किया। विषाद दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, और कविता में स्थल-स्थल पर प्रकट होने लगा—

हाय ! वहै भारत-भुव भारी ;
सब ही विधि सों भई दुखारी।
हाय पंचनद ! हा पानीपत !
अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत !
हाय चित्तौर ! निलज तू भारी ;
अजहुँ खरो भारतहि मँझारी !

अतीत गौरव-गाथा की स्मृति विषाद का घनत्व बढ़ाने में

ही सहायक हुई। तिक्त निराशा तथा क्षोभ ने लोगों का हृदय हताश तथा उद्वेलित कर दिया। क्रांति को दबा देने के बाद उसका लक्षण बाहर एकदम अप्रकट था, किंतु उसकी आग भीतर-ही-भीतर सुलगती रही। राष्ट्रीय भावना में विषाद तथा असंतोष की प्रबलता होने लगी। शोक-विह्वल हृदय को शांति प्रदान करने के लिये देशवासी कभी अपने अतीत की समृद्धि का स्मरण कर रोते थे, कभी वर्तमान की विभीषिका देखकर तड़प उठते थे, और कभी भविष्य की कमनीय कल्पना कर प्रसन्न हो उठते थे। हिंदी-साहित्य में रोमांटिक युग के आगमन का संकेत मिल रहा था। भाषा, भाव तथा शैली में क्रांति की भावना धूमिल रूप से परिलक्षित होने लगी थी।

भारतेंदु आदि ने प्रगति के साथ सहयोग किया, और प्राचीन परंपरा का भी अनुसरण करना न छोड़ा। नवीन और प्राचीन के मध्य मार्ग को ही उन लोगों ने उत्तम समझा। भारतेंदु-काल में शृंगार के विरोध में जिस आंदोलन की सृष्टि हुई थी, वह उसे निर्मूल करने में समर्थ नहीं हो सका। हाँ, यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि तत्कालीन कवियों ने शृंगारिक कविता को विशुद्धता प्रदान की। उसकी भावनाओं में पावनता तथा स्वच्छता का समावेश हुआ, और ऐहिक वासना का निराकरण। श्रद्धा के योग से प्रेम भक्ति की ओर अग्रसर हुआ।

सिपाही-विद्रोह की असफलता से उत्पन्न निराशा तथा विषाद

में कभी कभी नहीं आई। जब महारानी विक्टोरिया ने अपनी घोषणा सुनाई, तब भारतवासियों के हृदय की मूर्च्छित आशा-लता कुछ सजीव हो उठी, किंतु पूर्ण रूप से दुःख का निराकरण नहीं हो सका। विषाद और हर्ष के संघर्ष से कवियों का हृदय आकुल बना रहा। देखिए—

अँगरेज-राज सुख-साज सजे सब भारी,
पै धन बिदेस चलि जात यहै अति ख्वारी।

रीतिकालीन कविताओं के प्रति, जो कलुषित शृंगारिक भावनाओं से ओत-प्रोत थीं, भारतेंदु-काल के कवियों ने विद्रोह किया, और यही क्रांति छायावाद के मूल में अवस्थित है। जिस क्रांति का बीज-वपन भारतेंदु-काल में हुआ था, वही द्विवेदी-काल में अंकुरित हुई। द्विवेदी-काल के कवियों ने कविता में युगांतर लाने का प्रयत्न किया, किंतु उनकी मनोवृत्ति क्रांति की अपेक्षा संस्कार की ओर अधिक थी। सुधारवादी होने के कारण अधिक परिवर्तन उन्हें वांछित न था। यों तो पहले से ही खड़ी बोली में कविता की रचना होने लगी थी, किंतु भारतेंदु की मृत्यु के बाद उसकी गति में अधिक तीव्रता आई। खड़ी बोली की कविता का युग भारतेंदु की मृत्यु के बाद से समझना चाहिए। भारतेंदु-काल में जिस क्रांति की झलक देख पड़ी, उसमें बहुत कुछ अव्यवस्था थी। उसे व्यवस्थित रूप में लाने का श्रेय द्विवेदी-काल के कवियों को है। उस काल में भाषा, अलंकार, छंद आदि के साथ मनमाना

किया जाता था, उसकी अवहेलना की जाती थी। इस ओर द्विवेदी-काल के कवियों का ध्यान आकर्षित हुआ। इस काल के कवियों को कविता के उपयुक्त भाषा-निर्माण करने के लिये जितना श्रेय दिया जायगा, उतना स्वतंत्र कविता की रचना करने के लिये नहीं। शब्द-चयन, शब्द-व्यवहार, व्याकरण-सम्मत पदावली आदि की ओर उन लोगों का ध्यान अधिक था। भाषा में इन लोगों ने बहुत बड़ी क्रांति की, किंतु उसमें सरसता, स्निग्धता, मधुरता तथा सुंदरता का समावेश नहीं हो सका। भाषा कविता के उपयुक्त न रहकर विचार-प्रतिपादन के योग्य गद्यवत् (Prosaic) बन गई। भाषा सच्चे कवि का अनुगमन करती है। लेकिन, हम देखते हैं, द्विवेदी-काल के कवियों ने भाषा गढ़ने की अधिक कोशिश की, उनके पीछे भाषा नहीं चली।

नवयुग के आरंभ में यद्यपि भारतेंदु आदि ने कविता-क्षेत्र में क्रांति लाने की कोशिश की थी, तथापि उन्हें भावों में नूतनता लाने में सफलता नहीं मिली। हाँ, उन लोगों द्वारा भावों में कुछ गहराई अवश्य आई। काव्य-वस्तु के लिये नए-नए विषय अपनाए गए, लेकिन कविता की अभिव्यंजना-शैली प्राचीन परंपरा का ही अनुगमन करती रही। द्विवेदी-काल के कवियों ने भावों में परिवर्तन किया, और अभिव्यंजना-शैली में भी, किंतु हम पहले ही कह आए हैं—वे लोग विद्रोह करना नहीं चाहते थे, केवल सुधार के आकांक्षी थे। अतएव इस

काल की कविताओं में प्राचीन भावों की आवृत्ति बार-बार हुई। नवीन भावों तथा नूतन विचारों को हौवा समझकर तत्कालीन कवि-समाज उनसे दूर-ही-दूर भागता रहा। इति-वृत्तात्मक कविता की झलक भारतेंदु-काल से ही पद्यात्मक निबंधों के रूप में मिलने लगी थी। द्विवेदी-युग में तो उसकी अत्यंत अधिकता देख पड़ती है। इस युग की कविता इति-वृत्तात्मक तथा वर्णनात्मक अधिक है, और उसमें मधुर भावों का आलोड़न कम है। कविता अंतर्जगत् की विभूति है। उसमें मर्मस्पर्शिता तथा मानव-हृदय का स्पंदन आवश्यक है। लेकिन इस काल की कविता में इन सभी बातों का अभाव-सा है।

देश की तत्कालीन अवस्था बहुत खराब थी। सभी उसी के सुधार की ओर संलग्न थे। कवियों का ध्यान भी देश की समस्या की ओर आकृष्ट था। विशुद्ध कविता की रचना की ओर किसी की उन्मुखता न देखी जाती थी। कवियों ने कविता को शिक्षा-दान तथा तात्कालिक समस्या के समाधान का उपा-दान बना लिया था। उनमें तोते को रटानेवाले उपदेश के शुष्क तत्त्व आपूरित हैं। कोई उपदेशक का ढीला-ढाला चोगा पहनकर कर्तव्याकर्तव्य की निर्धारणा करता था तो कोई आर्द्र-स्वर में देश की दयनीय अवस्था सुधारने की प्रार्थना और कोई स्वास्थ्य-संबंधी नियमों का निर्देश कर रहा था, तो कोई बोध-वर्द्धक लेख लिखने का आग्रह। इस प्रकार कविता हृदय की

विभूति न रहकर मानसिक उलझनों की ग्रंथि बन गई थी। देखिए—

धर्म के मग में अधर्मी से कभी डरना नहीं ;
चेतकर चलना कुमारग में कदम धरना नहीं।
शुद्ध भावों में भयानक भावना भरना नहीं ;
बोधवर्द्धक लेख लिखने में कमी करना नहीं।

—नाथूराम शंकर शर्मा

और—

प्रतिवर्ष विधवा-वृंद की संख्या निरंतर बढ़ रही ;
रोता कभी आकाश है, फटती कभी हिलकर मही।
हा ! देख सकता कौन ऐसे दग्धकारी दाह को ;
फिर भी नहीं हम छोड़ते हैं बाल्य-वृद्ध-विवाह को।

—मैथिलीशरण गुप्त

एक दूसरा उदाहरण, जिसमें केवल स्वास्थ्य की चर्चा है—

शरीर के हित हैं काम सारे ;
शरीर से सब कुछ हैं हमारे।
शरीर-रक्षा पर ध्यान दीजे ;
शरीर-सेवा सब छोड़ कीजे।

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदी-काल में इतिवृत्तात्मक तथा उपदेश-प्रधान कविता की कितनी बहुलता थी। कवि कवि न रह गया था, वरन् उपदेशक और तत्त्व-ज्ञान-वेत्ता

बन गया था। कविता की सार्थकता भावोद्रेक में हृदय को उच्छ्वसित करने में है। "प्रतिवर्ष विधवावृंद की संख्या निरंतर बढ़ रही !" यह कहने से हमारे हृदय में करुणा-भाव का संचार नहीं होता। "रोता कभी आकाश है, फटती कभी हिल-कर मही।" से कारुणिकता का चित्रण नहीं होता। कविता का लक्ष्य मानसिक बोध या अर्थ-ग्रहण-मात्र से सिद्ध नहीं हो जाता। उसके लिये वस्तु की आकृति-प्रकृति, रूप-रंग तथा आस-पास की परिस्थितियों का सम्यक् चित्रण आवश्यक है। वस्तु-बोध के बिना कविता का कुछ भी महत्त्व नहीं हो सकता। 'चोखे चौपदे' और 'चुभते चौपदे' की परिगणना कविता की श्रेणी में नहीं की जा सकती। कविता के लिये भावों की मूर्तिमत्ता अपेक्षित है, किंतु इस काल की कविताएँ इस प्रमुख तत्त्व का अभाव हैं। भावों में चेतना तथा स्पंदन नहीं, मूर्च्छना है। कविता में जो प्राणों का द्वंद्व रहता है, उसका अंतर्निवेश इस काल की कविता में नहीं हो सका। इस इतिवृत्तात्मकता तथा भौतिकता के विरुद्ध एक बहुत बड़ा प्रतिवर्तन (Reaction) हुआ, जो छायावाद के रूप में प्रकट हुआ।

विगत योरपीय महासमर का प्रभाव, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में, सभी देशों पर पड़ा। भारत भी उसका अपवाद नहीं था। भारत के सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक विचारों, पर, रहन-सहन के ढंग पर और चिंतन-प्रणाली पर उसका प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। पाश्चात्य देश में महा-

समर का प्रभाव कुछ दूसरे ही रूप में पड़ा। इस युद्ध के परिणाम-स्वरूप वहाँ निराशा, उदासीनता तथा शिथिलता की प्रबलतम धारा प्रवाहित होने लगी, किंतु भारत में उसके प्रभाव ने सिपाही-विद्रोह से उत्पन्न असंतोष को भड़काया। देश में राजनीतिक जागृति का प्रसार हुआ। लोगों के हृदय में अपने देश के लिये पवित्र भावनाएँ लहराने लगीं। राष्ट्रीय भावना की प्रबलता के साथ देशवासियों का ध्यान अपनी धर्मांधता तथा रूढ़िवादिता की ओर गया, और उसका जबरदस्त विरोध किया। इस विरोध के कारण आध्यात्मिक भावों के आदर्श में बहुत बड़ी क्रांति हुई, बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ। वह नवीन रूप में हमारे सम्मुख आया। तत्कालीन सुप्त समाज के कान में जागरण का मंत्र फूँकने के लिये भाववाद तथा निष्क्रियता के विरोध में बुद्धिवादी और आर्य-समाजी भावनाओं का प्रसार तीव्र गति से हुआ। इस प्रवाह का आगमन महाराष्ट्र की ओर से हुआ था। ठीक इसी समय एक दूसरा प्रवाह बंगाल की ओर से नीरस तर्कवाद के विरोध के रूप में आया। वह व्यक्तिगत अलौकिक अनुभूति द्वारा पुनः धर्म की प्रतिष्ठापना कर आध्यात्मिक आनंद-प्राप्ति का आकांक्षी था। इन दोनो विरोधी शक्तियों के संघर्ष ने समाज में एक जटिल समस्या की अवतारणा की। भारतीय समाज ने इस समस्या को सुलझा भी नहीं पाया था कि उसी समय योरप के सामाजिक सिद्धांतों के आगमन से जटिलता और

भी बढ़ गई। भारतीय संस्कृति का मूल मोक्ष की व्यष्टिवादी और अंततः नकारात्मक कामना पर आधारित है, और योरप की समाजवादी संस्कृति का मूल समष्टि की स्वीकारात्मक भावना पर। दोनो संस्कृतियों—भारतीय और योरपीय—के बीच भीषण संघर्ष हुआ। नैतिकता के प्राचीन आदर्शों के प्रति लोगों के हृदय में अविश्वास होने लगा था, क्योंकि उस मार्ग पर चलते-चलते अनेक बार सफलता के बदले उन्हें असफलता मिली थी। धार्मिक दृष्टिकोण में नवीनता-पूर्ण परिवर्तन हुआ। पाप आदि के संबंध में लोगों की नवीन धारणा बनी। प्राचीन ज्ञान अश्रद्धा तथा उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाने लगा। मानवीय कार्य का उत्तरदायी पहले ईश्वर को माना जाता था, लेकिन अब वैसी बात न रही। व्यक्ति की दुर्बलताओं का कारण एकमात्र वही नहीं माना जाता, बल्कि उसके सन्निकट की परिस्थिति तथा वातावरण पर भी ध्यान दिया जाने लगा. जो मानवीय शक्ति के परे है। व्यक्ति का उत्तरदायी व्यक्ति को ही न मानकर समाज को भी माना गया। इस प्रकार मनुष्य ने ईश्वर के कार्य-क्षेत्र को अपने अधिकार में कर लिया। निराशा तथा विषाद के आवर्त में पड़कर भारत अपने को भूल गया था। विगत महायुद्ध के प्रभाव ने उसे अपने यथाथ रूप से परिचित कराया। उसका हृदय निराशा, भय, अशांति और संघर्ष का तांडव-स्थल बना हुआ था। उस क्रांति के युग में, असंतोष के काल में, मनुष्य

की भावना, चिंतना, विचार आदि में परिवर्तन हो रहा था। वह परिवर्तन का—उत्क्रांति का युग था, जिसका प्रभाव कविता में भी परिलक्षित होता था। प्राचीन पद्धति द्वारा निर्मित इतिवृत्तात्मक कविता के प्रति वह युग विद्रोह की प्रबल भावना लेकर आया।

मानव-हृदय एक प्रकार का भार वहन करते-करते ऊब जाता है, और उसकी आत्मा उसके विरुद्ध विद्रोह कर बैठती है। विद्रोह का भाव सभी में सुषुप्तावस्था में वर्तमान रहता है। जब मनुष्य को किसी की असह्यता प्रतीत होती है, तब उसकी विद्रोहात्मक भावना जागरूक हो उठती है। भारतेंदु तथा द्विवेदी-काल में कविता में बहुत परिवर्तन हुआ, किंतु उसके मूल में आनंद-पूर्ण सहयोग का भाव अवस्थित था। अतएव उस काल की कविताओं में क्रांति के बदले संस्कार ही हुआ। द्विवेदी-काल की इतिवृत्तात्मकता की प्रबलता के असह्य हो जाने पर भावुकता ने उसके विरुद्ध जबरदस्त क्रांति की। स्थूलता के प्रति सूक्ष्मता का, भौतिकता के प्रति भावुकता का यह विद्रोह ही छायावाद का जन्मदाता है।

जिस समय भावुकता ने भौतिकता के प्रति क्रांति की थी, ठीक उसी समय कवींद्र-रवींद्र अपनी 'गीतांजलि' लेकर काव्य-जगत् में आए। विद्वानों ने उनकी मुक्त-कंठ से प्रशंसा की। उन्हें नोबुल-पुरस्कार मिला, और उनका नाम विश्व-कवियों में लिया जाने लगा। उनकी कृति के सम्मान से छायावादी कवियों

को अधिक स्फूर्ति मिली। छायावाद की क्रांति ने कविता में नवीन चेतना का जन्म दिया, और उसकी आत्मा तथा कलेवर (भावपक्ष तथा कलापक्ष) को नूतन, किंतु सुंदर रूप में परिणत कर दिया। कवियों ने प्राचीनता की अंधकार-पूर्ण कंदरा से—कल्पना-रहित, प्राण-हीन संकीर्ण क्षेत्र से—बाहर निकलकर उन्मुक्त वायु में साँस ली।

छायावाद और उसकी रहस्यात्मकता

प्रतिवर्तन की धीरे-धीरे सुलगनेवाली चिनगारी ने क्रांति का रूप धारण किया, और हिंदी-काव्य-जगत् में छायावाद का आविर्भाव हुआ। परंपरा की लीक पर चलनेवालों ने उसकी ओर आश्चर्य-विस्फारित नेत्रों से देखा। युग का आह्वान समझकर एक दल ने उसका समर्थन किया, और उसके साथ ही चलना अपना कर्तव्य समझा, किंतु दूसरे दल ने अपना चिर-परिचित मार्ग छोड़ना अनुचित समझा, और इस नवीन प्रगति का विरोध किया। क्रांति के समय में नियमों की, अनुशासनों की पाबंदी नहीं रहती। अतएव उस समय भी काल-जगत् में हलचल मची थी, और कविता की विचार-धाराओं में, भावनाओं में तथा शैलियों में साम्य तथा दृढ़ता का अभाव था। इस नवीन, असंयत बाढ़ में कुछ गंदगियाँ अवश्य आईं, किंतु थोड़े ही दिन बाद छायावाद का उज्ज्वल तथा भव्य रूप हमारे सम्मुख उपस्थित हुआ।

छायावाद के शैशव-काल में विद्वानों के बीच उसके संबंध में बहुत भ्रम-पूर्ण धारणा थी। उसके समर्थक छायावाद को रहस्यवाद का पर्याय मानते थे, और विरोधियों का विश्वास था कि अनंत, असीम, वीणा, हृत्तंत्री, उस पार आदि शब्दों की

योजना से पूर्ण अबोध-गम्य कविता ही छायावाद है। इस भ्रमात्मक विश्वास के कारण छायावादियों की बड़ी कटु आलोचना की गई, और इसी लये उन लोगों को छायावाद में प्रतिभा, मौलिकता, भावों की सत्यता तथा अकृत्रिम अभिव्यंजना का अभाव दिखाई पड़ा।

उन लोगों ने छायावाद को छंद-हीन, निरर्थक शब्दाडंबर तथा 'गीतांजलि' का अंधानुकरण समझकर घृणा-पूर्ण दृष्टि से देखा। कुछ लोगों ने तो उसे 'विलायती चीज़ों का मुरब्बा' तक कहा। छायावाद और रहस्यवाद, दोनो दो चीजें हैं, दोनो की भित्ति का निर्माण विभिन्न तत्वों के योग से हुआ। थोड़ी-बहुत रहस्यात्मक के समन्वय-मात्र से ही छायावाद रहस्यवाद का स्थान नहीं ग्रहण कर सकता। इसीलिये उसमें कबीर के रहस्यवाद की विशेषताओं का अन्वेषण करने पर आलोचक को निराश होना पड़ता है। कविता और दर्शन के पारस्परिक संबंध के कारण उसमें थोड़ी-सी रहस्योन्मुखता तथा दार्शनिकता की प्राप्ति स्वाभाविक है। उसे 'गीतांजलि' का अनुकरण समझना एकदम तथ्य-हीन तथा अनुचित है। 'गीतांजलि' के पुरस्कृत तथा सम्मानित होने से छायावादी कवियों को चेतना मिली, तथा उनमें स्पर्द्धा का भाव जाग्रत् हुआ। छायावाद पर 'गीतांजलि' के प्रणेता कवींद्र-रवींद्र की अभिव्यंजना-शैली का प्रभाव अवश्य है, जिसे उसने भी पाश्चात्य साहित्य से उधार लिया है। अभिव्यंजनावादी क्रोचे का प्रभाव सिर्फ

बँगला और हिंदी पर ही नहीं पड़ा, बल्कि उससे भारत के सभी अन्य साहित्य प्रभावान्वित हैं। अँगरेज़ी-साहित्य को लाक्षणिकता, मूर्तिमत्ता आदि का छायावाद में आधिक्य अवश्य है, किंतु वे सभी अनुकरण-मात्र ही नहीं हैं। उन विशेषताओं को छायावाद ने हिंदी के साँचे में ढालने का प्रयत्न किया है। उसमें उसे सफलता भी मिली है। उसकी लाक्षणिक तथा कला-पूर्ण अभिव्यंजना को कृत्रिम व्यंजना की उछल-कूद कहना सर्वथा अयुक्ति-युक्त है। उसकी तुलना में द्विवेदी-काल की भाषा की सजीवता निष्प्राण है। अब भावों की सचाई के संबंध में भी दो शब्द कह देना आवश्यक होगा। छायावाद जीवन के अनुभूति-पूर्ण, मार्मिक भावों की अभिव्यक्ति है। वे भाव हृदय के मधुर स्नेह से स्निग्ध तथा प्राणों के संस्पर्श से स्पंदित हैं। इतना ही नहीं, छायावाद में कवि के जीवन की वैयक्तिक भावनाओं की व्यंजना भी अन्य कविताओं की तुलना में अधिक हुई है। कवि-जीवन की सत्यता उसमें पूरी तरह स्फुरित हुई है। उसकी प्रभविष्णुता का कारण अंतस्तल के सच्चे भावों का समन्वय है। कृत्रिम भावों द्वारा हमारे हृदय में रसात्मकता का संचार नहीं हो सकता। जो भाव जीवन की जितनी ही सत्यता से दीप्त रहता है, उसकी अभिव्यंजना उतनी ही अधिक अकृत्रिम होती है। सच्ची अनुभूति-युक्त भाव भाषा की खोज करने तथा भाषा का बढ़िया लिबास पहनने के लिये परिश्रम नहीं करता। वह सहज सुंदर

स्वाभाविक भाषा में स्वतः निःसृत हो जाता है। छायावाद की भाषा में प्राचीनता के बदले नवीनता का सम्मिश्रण है। लाक्षणिकता तथा नूतनता-समन्वित भाषा में प्राचीनता के पोषकों को भले ही शब्दाडंबर मालूम पड़े, किंतु उसकी बहुत बड़ी उपयोगिता है। जब नवीन भावों की अभिव्यंजना में प्राचीन शब्द असमर्थ सिद्ध हो जाते हैं, तब भाषा को नई तरह से सँवारा जाता है। अतएव छायावाद के नूतन तथा सूक्ष्म भावों के लिये भाषा के रूप को नवीनता प्रदान की गई जिसके द्वारा भावोद्‌बोधन की शक्ति में अपरिमित वृद्धि हुई भावों का प्रतिवर्तन काव्य के सभी अवयवों में प्रतिफलि हुआ। छायावाद में छंदों के प्रति जो थोड़ी-सी उपे परिलक्षित होती है, उसके मूल में भी इतिवृत्तात्मकत प्रति विप्लव का प्रादुर्भाव ही है। कविता भावों की गु मालिका है। उसमें अनेक प्रकार के भाव रहते हैं, कुछ छोटे और कुछ बड़े होते हैं। उनको लय औ के साँचे में 'फिट' करना अधिक यत्न साध्य है समानता के द्वारा आंतरिक साम्य का प्रदर्शन सकता। अतः भावों की छुटाई-बड़ाई के अनुकूल कविता में विभिन्न छंदों का उपयोग किया गया है, स्थलों पर छंद के चरणों में भी साम्य-स्थापन का रक्खा गया है। छंद-हीनता छायावाद का

...सौंदर्य की रक्षा के लिये

बंधनों की अवहेलना को भी बुरा नहीं समझता। नियमों की रक्षा से वह काव्यत्व को अधिक महत्त्व देता है। इसके अतिरिक्त छायावाद ने शास्त्र से भिन्न छंदों की भी रचना की है, जिनमें ग्रथित होकर भावों को भी नवल प्रकाश मिला है। इसके लिये उसकी उपेक्षा तथा अवमानना नहीं की जा सकती, क्योंकि पहले लक्ष्य-ग्रंथों की सृष्टि होती है, और पीछे लक्षण-ग्रंथों का निर्माण होता है। आचार्य कवि का अनुसरण करनेवाला होता है, न कि कवि आचार्य के अन्वेपित मार्ग को ही सर्वश्रेष्ठ समझकर उस पर पूर्णतः आरूढ़ रहता है। छायावाद ने छंदों के इस नवीन प्रयोग द्वारा पिंगल-शास्त्र को वरदान प्रदान किया है, जो सर्वथा श्लाघ्य है।

छायावाद का जन्म-स्थान उत्तर-भारत है, जहाँ हिंदी-भाषा का प्रचार तथा प्रसार है। उसकी उत्पत्ति का समय बीसवीं सदी है। इतिवृत्तात्मकता के प्रति भावुकता की क्रांति जब रूप धारण कर काव्य-जगत् में अवतरित हुई, तब वस्तुवादी कवियों और उनके समर्थकों को वह कविता अजनबी-सी मालूम हुई। उन लोगों ने मज़ाक़ उड़ाने के लिये उसका नाम छायावाद इसलिये रख दिया कि नवीन कविता का अर्थ छाया में बैठकर लगाया जा सकता है, और उसके तत्त्व छाया के समान धूमिल और अस्पष्ट रहते हैं। कुछ दिनों बाद यह मज़ाक़िया नाम ही हिंदी-काव्य-जगत् में इस नई कविता के लिये प्रचलित हो गया। यदि अच्छी तरह विचार किया जाय,

तो यह स्पष्ट हो जायगा कि विरोधियों का यह अभिशाप उसके लिये वरदान सिद्ध हुआ। छायावाद-शब्द उसके तत्त्वों का यथार्थ द्योतक है, क्योंकि उसमें हृदय की छायावत् सूक्ष्म अंतर्वृत्तियों का मधुर, सरस तथा कला-पूर्ण चित्रण रहता है।

हिंदी की प्राचीन कविताओं में अंतर्जगत् के चित्रों की उपेक्षा होती रही। उनमें बाह्य जगत् की ओर जितना ध्यान दिया जाता था, उतना आभ्यंतर जगत् की ओर नहीं। उनमें सर, सरिता, कानन, निर्झरिणी, पर्वत, वन, उपवन, आकाश, कूल, केलि, कल्हार, कुंज, वसंत, शरद्, पावस आदि के ही वर्णन अधिक उपलब्ध होते हैं, और हृदय के निगूढ़तम भाव-सौंदर्य की ओर अन्यमनस्कता परिलक्षित होती है। उनमें भावों का चित्रण कार्य-रूप से हुआ है, परंतु बाह्य जगत् का विश्लेषण पर्याप्त मात्रा में प्राप्त है। बाह्य सौंदर्य के चित्रण से कवियों को अवकाश ही नहीं मिला, जो वे आंतरिक सौंदर्य की ओर ध्यान देते। ऐसी बात प्रायः सभी भाषा के कविता-साहित्य में पाई जाती है। सर्व-प्रथम उसमें बाह्य जगत् का चित्रण होता है, तदनंतर अंतर्जगत् के सौंदर्य की ओर उन्मुखता आती है। प्राचीन कविता निर्जीव तथा निस्पंद है, तो छायावादी कविता सजीव तथा संवेदनशील। छायावाद में मानवीय जीवन का संवेदन है, स्पंदन है, और आत्मा की मधुर पुकार है। वह जीवन के मार्मिक तत्त्वों से संजीवित हो रहा है। जीवन से बहुत दूर हटकर सांसारिक वस्तुओं के बाह्य

रूप-रंग पर मोहित होने के कारण प्राचीन कविता में छायावाद-जैसी मर्मस्पर्शिता नहीं प्राप्त होती। इतिवृत्तात्मक कविता का निर्माण बाह्य जगत् की स्थूलता के आधार पर होता है, किंतु छायावाद हृदय की सूक्ष्म भावनाओं का सौंदर्य-समन्वित चित्र उपस्थित करता है। इसके अतिरिक्त उसमें जीवन की अभिव्यक्ति कल्पना तथा भावनाओं के नीहारिकामय जगत् में होती है। उसमें जीवन की जिन रेखाओं का अंकन रहता है, उनमें स्पष्टता नहीं, धूमिलता पाई जाती है। उसका सत्य वास्तविकता की कठोरता से अलग रहने के कारण अधिक मधुर तथा अधिक मादक होता है। इतिवृत्तात्मक कविता में ज्ञान-विज्ञान के तथ्यों का सन्निवेश तथा मर्मस्पर्शी भावों का अभाव रहता है, किंतु छायावाद प्रत्यक्ष होकर किसी तथ्य की व्यंजना नहीं करता। वह भावों के मधुर आलोड़न तथा सुषमा के मृदुल आच्छादन द्वारा अपने हृदय की बातों को अभिव्यक्त करता है। वह स्थूल सत्यों की अपेक्षा जीवन के मार्मिक अंशों को अपने में संस्थापित करता है। वह इतिवृत्तात्मक कविता की तरह वस्तु के बाह्य रूप. रंग और सौंदर्य पर मुग्ध नहीं होता। वह वस्तु के अंतर्जगत् के सुरक्षित भावमय सौंदर्य पर आकर्षित होता है। वह वस्तु को यथातथ्य रूप में न अपनाकर काट-छाँटकर उसमें सुरूपता तथा सुचिक्कणता लाने का प्रयत्न करता है। भौतिकता से छायावाद का जन्मजात विरोध है। उसके विरोध पर ही उसकी भित्ति अवलंबित है।

बहुत-से विद्वान् भारत को रहस्यवाद का उत्पत्ति-स्थल न मानकर अन्य देशों को मानते हैं। सबसे पहले उसका आविर्भाव न तो अरब-फ़ारस में हुआ, और न योरप के किसी अन्य देश में। रहस्यवाद की जन्मभूमि भारतवर्ष है, किंतु उसका पालन-पोषण अरब-फ़ारस, योरप आदि में हुआ, जहाँ पैग़ंबरी धर्म का प्रचार है। रहस्यवाद का मूल भारतीय अद्वैतवाद है। अद्वैतवाद की उत्पत्ति ज्ञान-क्षेत्र से हुई है, किंतु उसने भाव-क्षेत्र में जाकर एक नूतन रूप धारण किया, जिसे रहस्यवाद कहा जाता है। उपनिषदों में, जो भारतीय ज्ञान-कांड के अत्युत्कृष्ट ग्रंथ हैं, अद्वैतवाद का प्रतिपादन प्राप्त होता है। ईसा से कई शताब्दी पूर्व ही उपनिषदों का काल माना जाता है। उन ग्रंथों में ब्रह्म की एक सत्ता का निरूपण किया गया है, और जगत् के विभिन्न व्यापारों तथा नाना रूपों में एक असीम सत्ता की व्याप्ति मानी गई है। उस सत्ता का परिचय रूप-रेखा तथा नाम से नहीं प्राप्त हो सकता। वह स्थूल बुद्धि के परे की वस्तु है। जगत् की अन्य वस्तुओं के समान उसका दर्शन तथा ज्ञान सुलभता से प्राप्त होना असंभव है। निष्कलुष एवं सूक्ष्म बुद्धि द्वारा उस सत्ता का बोध हो सकता है। किंतु वह ज्ञान की वस्तु नहीं, अनुभव की वस्तु है, और उसकी अनुभूति हमें आनंद-विह्वल बना देती है। सूक्ष्म बुद्धि भी अपनी विमुग्धता के प्रभाव द्वारा ही उस स्थिति के ज्ञान का अनुमान करती है। उसमें भी

उसका पूर्ण ज्ञान पाने की सामर्थ्य का अभाव है। यदि थोड़ी-सी अनुभूति भी प्राप्त होती है, तो उसकी अविकल अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती। इसी मूक आनंद के लिये कबीर ने "अकथ कहानी प्रेम की" और "गूँगे केरी सरकरा" कहा है। जब महर्षि ब्रह्म-चिंतन करते-करते भावोन्मेष की अवस्था में पहुँच जाते थे, तब उनका विचार-प्रकाशन रहस्यात्मक पद्धति द्वारा हुआ करता था। बस, यहीं से सर्व-प्रथम रहस्यवाद का उद्भव हुआ। भगवद्गीता के दशम अध्याय में श्रीकृष्ण ने अपनी (ईश्वर की) विभूतियों का वर्णन रहस्यात्मक शैली में किया है। वहाँ ब्रह्म और जगत् की एकता का निरूपण भावात्मक प्रणाली पर किया गया है। यदि इससे भी आगे बढ़कर रहस्यवाद के बीज का अन्वेषण किया जाय, तो हमारे सम्मुख मनुष्य की आदिकालीन जिज्ञासा आएगी, जब जगत् के राशि-राशि पदार्थों को देखकर, उनमें होनेवाले परिवर्तन का अनुभव कर और उनकी नियमितता का अवलोकन कर मानव-हृदय चमत्कृत हो उठा था। यह जिज्ञासा आदिकाल से ही मनुष्य के मानस-पटल पर नाचती आ रही है, और आज भी वह पूर्ववत् नवीन है। उसका समाधान अब तक नहीं हो सका। यही जिज्ञासा रहस्यवाद की प्रेरणा में सन्निहित है। वस्तुतः रहस्यवाद जिज्ञासुओं और ज्ञानियों की वस्तु है। ज्ञान-तंतु की सहायता से उसका अन्वेषण होता है, लेकिन जब उसमें कल्पना तथा भावुकता का समन्वय हो जाता है,

तब रहस्यवादी कविता की सृष्टि होती है। इसी को ध्यान में रखकर रहस्यवाद के दो भेद किए गए हैं—साधनात्मक रहस्यवाद और भावनात्मक रहस्यवाद। कठिन अभ्यासों, मस्तिष्क की गुत्थियों तथा अलौकिक साधनाओं द्वारा उस दिव्य शक्ति का साक्षात्कार करना साधनात्मक रहस्यवाद है, और उस असीम शक्ति को सर्वश्रेष्ठ मानकर अपनी भावनाओं द्वारा तादात्म्य संस्थापित करना भावनात्मक रहस्यवाद है। ज्ञानी या साधना-रत रहस्यवादी और भावुक रहस्यवादी का लक्ष्य सत्यान्वेषण ही है। एक चिर सत्य की प्राप्ति के लिये मस्तिष्क या बुद्धि द्वारा प्रयत्न करता है, तो दूसरा हृदय द्वारा। चिर सत्य की उपलब्धि हो जाने पर एक के हृदय की जिज्ञासा शांत होकर निष्क्रिय हो जाती है, और दूसरे के अंतस्तल का भाव ज्यों-का-त्यों वर्तमान रहता है। जिज्ञासु को अपनी जिज्ञासा की तन्मयता में क्षणिक शांति प्राप्त होती है, किंतु भावुक रहस्यवादी (कवि) 'हाल' या समाधि-अवस्था में आनंद-विह्वल होकर अपना अस्तित्व भूल जाता है। एक की सत्यान्वेषण-पद्धति में शुष्कता तथा नीरसता और दूसरे की प्रणाली में कल्पनामय सौंदर्य का समन्वय रहता है। इसीलिये कविता में सदा भावनात्मक रहस्यवाद की ही अपेक्षा रहती है।

रहस्यवाद का प्रादुर्भाव उस समय होता है, जब मानवात्मा परमात्मा की विराट् शक्ति की ओर उन्मुख होती है, और अपने प्रेम की विशुद्धता तथा निश्छलता के कारण ('परान

दिए प्रेमेर दीप ज्वालो'-जैसे प्रेम का ही वहाँ महत्त्व है) उसमें तादात्म्य का अनुभव करती है। उस समय जीवात्मा की समवेदना परमात्मा की और परमात्मा की समवेदना जीवात्मा की, आत्मा का विचार परमात्मा का और परमात्मा की भावना आत्मा की हो जाती है। इस प्रकार दोनो में विभिन्नता नहीं रह जाती। आत्मा उस अलौकिक शक्ति में अपना अस्तित्व लय कर देती है। उससे अलग उसकी कोई सत्ता नहीं रह जाती। वह अनेकता में एकता का अनुभव तथा जगत् के अणु-परमाणु में उस दिव्य शक्ति का दर्शन करती है। आत्मा की सभी शक्तियाँ उस विराट् शक्ति के अनंत वैभव और प्रभाव में तन्मय हो जाती हैं। जब तक अनंत शक्ति से आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता, तब तक उसके विरह में वह तड़पती है, वेदना की तीव्र ज्वाला में झुलसती है, और सदा उसमें अपने प्रियतम के लिये आकुल उत्कंठा बनी रहती है—

सुदूर कोन नदीर पारे ?
गहन कोन वनेर धारे ?
गंभीर कोन अंधकारे ?
हतेछे तूमि पार !
परान, सखा, बंधु हे आमार !

—गीतांजलि

तदाकार परिणति के लिये आत्मा सदैव चिंतित रहती है—

मेरे जीवन में एक वार
तुम देखो तो अपना स्वरूप;

तब रहस्यवादी कविता की सृष्टि होती है। इसी को ध्यान में रखकर रहस्यवाद के दो भेद किए गए हैं—साधनात्मक रहस्यवाद और भावनात्मक रहस्यवाद। कठिन अभ्यासों, मस्तिष्क की गुत्थियों तथा अलौकिक साधनाओं द्वारा उस दिव्य शक्ति का साक्षात्कार करना साधनात्मक रहस्यवाद है, और उस असीम शक्ति को सर्वश्रेष्ठ मानकर अपनी भावनाओं द्वारा तादात्म्य संस्थापित करना भावनात्मक रहस्यवाद है। ज्ञानी या साधना-रत रहस्यवादी और भावुक रहस्यवादी का लक्ष्य सत्यान्वेषण ही है। एक चिर सत्य की प्राप्ति के लिये मस्तिष्क या बुद्धि द्वारा प्रयत्न करता है, तो दूसरा हृदय द्वारा। चिर सत्य की उपलब्धि हो जाने पर एक के हृदय की जिज्ञासा शांत होकर निष्क्रिय हो जाती है, और दूसरे के अंतस्तल का भाव ज्यों-का-त्यों वर्तमान रहता है। जिज्ञासु को अपनी जिज्ञासा की तन्मयता में क्षणिक शांति प्राप्त होती है, किंतु भावुक रहस्यवादी (कवि) 'हाल' या समाधि-अवस्था में आनंद-विह्वल होकर अपना अस्तित्व भूल जाता है। एक की सत्यान्वेषण-पद्धति में शुष्कता तथा नीरसता और दूसरे की प्रणाली में कल्पनामय सौंदर्य का समन्वय रहता है! इसीलिये कविता में सदा भावनात्मक रहस्यवाद की ही अपेक्षा रहती है।

रहस्यवाद का प्रादुर्भाव उस समय होता है, जब मानवात्मा परमात्मा की विराट् शक्ति की ओर उन्मुख होती है, और अपने प्रेम की विशुद्धता तथा निश्छलता के कारण ('परान

दिए प्रेमेर दीप ज्वालो'-जैसे प्रेम का ही वहाँ महत्त्व है) उसमें तादात्म्य का अनुभव करती है। उस समय जीवात्मा की समवेदना परमात्मा की और परमात्मा की समवेदना जीवात्मा की, आत्मा का विचार परमात्मा का और परमात्मा को भावना आत्मा की हो जाती है। इस प्रकार दोनो में विभिन्नता नहीं रह जाती। आत्मा उस अलौकिक शक्ति में अपना अस्तित्व लय कर देती है। उससे अलग उसकी कोई सत्ता नहीं रह जाती। वह अनेकता में एकता का अनुभव तथा जगत् के अणु-परमाणु में उस दिव्य शक्ति का दर्शन करती है। आत्मा की सभी शक्तियाँ उस विराट् शक्ति के अनंत वैभव और प्रभाव में तन्मय हो जाती हैं। जब तक अनंत शक्ति से आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता, तब तक उसके विरह में वह तड़पती है, वेदना की तीव्र ज्वाला में झुलसती है, और सदा उसमें अपने प्रियतम के लिये आकुल उत्कंठा बनी रहती है—

सुदूर कोन नदीर पारे?
गहन कोन वनेर धारे?
गंभीर कोन अंधकारे?
हतेछे तूमि पार!
परान, सखा, बंधु हे आमार!

—गीतांजलि

तदाकार परिणति के लिये आत्मा सदैव चिंतित रहती है—

मेरे जीवन में एक बार
तुम देखो तो अपना स्वरूप;

मैं तुममें प्रतिबिंबित होऊँ,
तुम मुझमें होना ओ अनूप !

—रामकुमार वर्मा

और, जब परमात्मा से उसका साक्षात्कार हो जाता है, तब वह आत्मविस्मृति में आनंदानुभूति प्राप्त करती है।

रहस्यवाद में आत्मा परमात्मा पर न्योछावर रहती है, उसमें नश्वर जीवन के लिये अमरता का नूतन संदेश रहता है, और उसमें रहती है पवित्रता, उच्चता और स्वर्गिकता। वस्तुतः रहस्यवाद रहस्यमय लोक की पावन पुकार है। उसमें आत्मा और परमात्मा के ग्रंथि-बंधन के लिये आकुल भावना का अंतर्निवेश रहता है। रहस्यवादी कवि अपनी आत्मा की सत्ता परमात्मा में मिला देता है, और सांसारिक पदार्थों में जगत्-परिव्याप्त, परम चेतन की विकसित अवस्था का संकेत पाकर आनंद की तरल धारा में डुबकियाँ लगाता है। आत्मा और परमात्मा के सूक्ष्म संबंध का ज्ञान हो जाने पर आत्मा में परमात्मा का, परमात्मा में आत्मा का दर्शन होता है। जगत् की सभी ससीम वस्तुओं में असीम की, अनंत की झाँकी मिलती है। छायावाद जगत् के सभी पदार्थों में मानवीय जीवन का दर्शन और उनमें आत्मीयता का अनुभव करता है। उसमें आत्मा के साथ आत्मा की, जीवन के साथ जीवन की अभिव्यक्ति होती है, और रहस्यवाद में लौकिक का अलौकिक के साथ, आत्मा का परमात्मा के साथ संबंध

संस्थापित रहता है। सारांश में छायावाद अंतर्जगत् की छायावत् सौंदर्य-समन्वित, सुकुमार भावनाओं का नवीनता-पूर्ण शैली के साथ चित्रण है। वह जगत् के चिरसत्य का, जो सतत नूतन बना रहता है, सुंदर तथा सरल विवेचन है। बस, उसमें एकमात्र भावों की धारा प्रवाहित होती है।

दार्शनिक विचार-धारा में रहस्यवाद का अस्तित्व बहुत दिनों से अक्षुण्ण था, किंतु वह रागात्मिका वृत्ति के मधुर संस्पर्श से सौंदर्य-पूर्ण नहीं बन सका था, जिसके प्रति हृदय का प्रेम सागर के समान उमड़ पड़े। वह मानस-लोक की वस्तु थी। उससे आगे बढ़कर वह हृदय में अपनी सत्ता स्थापित करने में असमर्थ था। योग के रहस्यवाद में साधना तथा अभ्यास द्वारा आत्मा का ब्रह्म के साथ साक्षात्कार होता है। उसमें प्रेमानुभूति के लिये स्थान नहीं है। जायसी आदि सूफ़ी कवियों तथा कबीर आदि ज्ञानमार्गी कवियों ने रहस्यवाद को प्रेम की आकुलता से संजीवित करने का प्रयत्न अवश्य किया, किंतु वह योग की सीमा-भूमि से संयुक्त ही रहा। सूफ़ियों के रहस्यवाद के साथ छायावाद की रहस्य-वादिता की बहुत कुछ समानता है। छायावाद का लौकिक प्रेम अध्यात्म-पक्ष की ओर आकर्षित प्रतीत होता है। उसमें सूफ़ियों के समान ही 'प्रेम की पीर' तथा विरह-विह्वल हृदय की आकु-लता की व्यंजना व्यापक रूप में हुई है। आराधना-रत आत्मा की वेदना के समान ही उसकी भी वेदना है। इसीलिये उसके

कर अलग नहीं रह सकता था, और कविता तथा दर्शन के चिर पारस्परिक संबंध की उपेक्षा करना भी उसके लिये असंभव था। इनके अतिरिक्त उसकी रहस्य-भावना के मूल में अज्ञान का राग और इतिवृत्तात्मकता के प्रति भावुकता का विद्रोह भी सन्निविष्ट है। ज्ञान के प्रति राग की प्रवृत्ति के समान अज्ञान के राग का भी महत्त्व है। रागात्मिका प्रकृति में दोनो के लिये ही स्थान है। ज्ञान के राग द्वारा बुद्धि को नाना तत्त्वों के अन्वेषण के लिये प्रेरणा मिलती है, और अपने कार्य की सफलता पर उसे नवीन स्फूर्ति प्राप्त होती है। अज्ञान के राग द्वारा ज्ञान की विस्तृति के धुँधलेपन की ओर मनुष्य का ध्यान आकर्षित होता है। उस समय उसे बुद्धि की विफलता तथा नीरवता पर चिंता नहीं, वरन् संतोष होता है, और मानसिक श्रांति का भी परिहार होता है। छायावाद के हृदय में 'उस पार' के प्रति जो आकुल मोह, उत्कट लालसा तथा पवित्र अनुराग परिलक्षित होता है, उसमें ब्रह्म-मिलन की आकुल आकांक्षा और परमात्मा के प्रति आकर्षण का अभाव है, क्योंकि उसकी प्रेरणा-शक्ति का संसर्ग रहस्यात्मक प्रवृत्ति से नहीं है। इस रहस्योन्मुखता को आध्यात्मिकता का चश्मा लगाकर देखने से समीक्षकों को विफल-मनोरथ होना पड़ता है, क्योंकि आधुनिक कवियों की प्रवृत्ति धार्मिकता की ओर एकदम ही कम है। कवि किसी धार्मिक प्रेरणा से अभिभूत होकर दूसरे लोक की रचना नहीं करता। पार्थिवता का

विरोध छायावाद की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, अतएव वह लोक कोई यथार्थ लोक नहीं, वरन् उसकी कल्पना-मात्र है। उस लोक का संबंध अव्यक्त जगत् से नहीं रहता। इस जगत् की प्रतारणा, छल-प्रपंच आदि के कारण छायावाद काल्पनिक लोक की ओर आशा-भरी दृष्टि से देखता है। जब कवि इस जगत् के कठोर व्यवहारों से ऊब जाता है, जब उसका हृदय यहाँ के घात-प्रतिघातों से सिहर उठता है, जब उसे अपनी प्रेम-साधना में असफलता मिलती है, जब उसकी अभिलाषाएँ तृप्त नहीं हो पातीं, जब वह इस जगत् में मनोनुकूल जीवन का आदर्श स्थापित नहीं कर सकता, तब उसका हृदय अपनी विवशता तथा असमर्थता पर हाहाकार कर उठता है, और वह किसी पवित्र रहस्यमय लोक का जिज्ञासु तथा स्रष्टा बन जाता है। वस्तुतः 'उस पार' की कल्पना कवि की अपनी स्थिति के प्रति असंतोष का परिणाम है। उसे विश्वास है, वह काल्पनिक जगत् में अपनी कामनाओं को यथार्थ रूप देने में समर्थ हो सकेगा, क्योंकि वहाँ लुब्ध मधु-वर्षी अधर मधुमय अधरों की रस-स्निग्धता प्राप्त कर हर्षातिरेक से विह्वल हो उठता है, वहाँ श्वास की प्रत्येक गति में और हृदय के प्रत्येक स्पंदन में प्रेम की जीवनदायिनी निर्झरिणी का प्रवाह है। इस जगत् में आनंद के साथ अवसाद, आशा के साथ निराशा, उत्थान के साथ पतन और प्रकाश के साथ अंधकार विद्यमान है, किंतु 'उस पार' का

जीवन प्रभात-सौंदर्य से द्योतित और चंद्र-ज्योत्स्ना से आलोकित है, वहाँ अमावस्या की कलुष कालिमा के लिये स्थान नहीं है, वहाँ इस जगत् के समान दुःख-दैन्य, शोक-भय, राग-द्वेष, घृणा-अवसाद, चिंता-निराशा आदि नहीं हैं। छायावाद की रहस्यात्मकता में अभाव-जन्य असंतोष सन्निहित है। इसीलिये उसमें कल्पना-लोक के प्रति आकुल जिज्ञासा का दर्शन होता है। अज्ञात के प्रति छायावाद की यह जिज्ञासा अनेक मधुर तथा रमणीय मनोवृत्तियों में से एक मनोदशा का परिचय कराती है, जिसकी अनुभूति अन्यान्य अनुभूतियों के साथ कभी-कभी कवियों को होती है। यह रहस्य-भावना गंभीर दार्शनिकता की चिंतना में घुल-मिलकर मधुर तथा सुंदर हो उठी है।

इस जगत् के सुखाभाव तथा दुःखाधिक्य के कारण ही 'उस पार' के प्रति प्रबल आकर्षण दृष्टिगत होता है, जिसकी अभिव्यंजना निम्नांकित पंक्तियों में स्पष्ट रूप से हुई है—

यहाँ सुख सरसों, शोक सुमेरु,
अरे, जग है जग का कंकाल!
वृथा रे, ये अरण्य - चीत्कार,
शांति, सुख है उस पार!

—पंत

छायावाद का कल्पना-लोक निम्नांकित आदर्शों से युक्त है, जहाँ पहुँचकर मानव-हृदय थोड़ी देर के लिये शांति की

साँस ले सकता और अपने अभीष्ट की प्राप्ति में सफल हो सकता है। इसीलिये 'उस पार' के प्रति छायावादियों के हृदय में आकुल उत्कंठा दिखाई पड़ती है—

वहाँ अधरों को हास हिला
क्षुब्ध अधरों से रहा मिला,
साँस में सहसा प्रेम जिला
बना देता उर को उर-हार।
हमें जाना जग के उस पार!

वहाँ नयनों में केवल प्रात
चंद्र-ज्योत्स्ना-सी केवल गात,
रेणु छाए ही रहते पात,
मंद ही बहती सदा बयार।
हमें जाना इस जग के पार!

—'निराला'

भौतिकता से ऊबकर जीवन की दुःख-पूर्ण वास्तविकता से बचने के लिये मानव-हृदय जीवन-नाविक से रहस्यमय लोक की ओर ले जाने का अनुरोध करता है, जहाँ पृथ्वी के कोलाहल से दूर रहकर निश्छल प्रेम की कथा का गान होता है। वहाँ वह जानकर नहीं, वरन् भूलतेभ-.कते पहुँचना चाहता है, क्योंकि वह समझता है कि उस काल्प.िक लोक में सचमुच उसकी वासनाओं की तृप्ति न हो सकेगी। फिर भी उसके लिये आग्रह इसलिये है कि वहाँ जाकर वह अपने

दुःखों और परितापों को कुछ क्षण के लिये अवश्य भूल जायगा।

ले चल वहाँ भुलावा देकर
मेरे नाविक ! धीरे-धीरे,
जिस निर्जन में सागर-लहरी
अंबर के कोने में गहरी—
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे !

—प्रसाद

रहस्यवाद को प्रथम प्रेरणा मानवीय जिज्ञासा से मिली है। यह रहस्यवाद की प्राथमिक स्थिति है, जहाँ जीवात्मा असीम की अनंत विभूतियों का दर्शन कर आश्चर्य-चकित होती है। छायावाद में रहस्यवाद की यही पहली अवस्था, यही हलका रहस्यवाद अधिक उपलब्ध होता है। प्रकृति के पट पर प्रतिदिन एक-से-एक अच्छे चित्र बनते और मिटा दिए जाते हैं। प्रभात की स्वर्णिम सुषमा प्रखर उत्ताप में बदल जाती है, संध्या का अरुणाभ सौंदर्य अंधकार में छिप जाता है, पावस के काले-काले बादलों से आच्छादित आकाश शरद् के शुभ्र हास में परिवर्तित हो जाता है, और मधुमास की वासंती श्री ग्रीष्म के तांडव में विलुप्त हो जाती है। इस नियमित परिवर्तन को देखकर कवि जिज्ञासु-भाव से प्रश्न कर उठता है—

कनक-से दिन, मोती-सी रात,
सुनहली साँझ, गुलाबी प्रात,
मिटाता - रँगता बारंबार,
कौन जग का यह चित्राधार ?

—महादेवी

छायावाद स्तब्ध ज्योत्स्ना के जगमगाते नक्षत्रों में, यौवन के दुर्वह भार को न वहन करनेवाले सुमन की मधुर सुरभि में, आपस में टकराकर मधुर संगीत छेड़नेवाली तरंगों में, विहग-कुल के कलकंठ की मधुर लहरियों में, तम-तोमवाली तमिस्त्र के चमकते खद्योतों में, प्रातः के हरीतिमा-पूर्ण शाद्वल-जाल पर बिखरे ओस-कणों में, मर्मर स्वर की वंशी फूँकनेवाले काननों में और श्यामल घन के रिमझिम फुहारे में अलौकिक शक्ति का संकेत और संदेश पाता है। उदाहरण-स्वरूप—

देख वसुधा का यौवन-भार
गूँज उठता है जब मधुमास,
विधुर उर के-से मृदु उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास,
न-जाने सौरभ के मिस कौन
सँदेसा मुझे भेजता मौन !

—पंत

और—

कुमुद-दल से वेदना के दाग़ को
पोंछतीं जब आँसुओं से रश्मियाँ,
चौंक उठतीं अनिल के निःश्वास छू
तारिकाएँ चकित सी, अनजान-सी,
तब बुला जाता मुझे उस पार जो
दूर के संगीत-सा, वह कौन है ?
—महादेवी

छायावाद में रहस्यात्मकता सन्निविष्ट है, किंतु वह रहस्यवाद नहीं है। थोड़ी-सी रहस्य-भावना का समन्वय काव्य के लिये स्वाभाविक है, क्योंकि किसी भी प्रकार की कविता दार्शनिकता का विरोध नहीं कर सकती। छायावाद की तुलना रहस्य-वाद से नहीं की जा सकती। दोनो की प्रेरणा-भूमि दो हैं, और दोनो का निर्माण विभिन्न तत्त्वों के संयोग से हुआ है, जिसका विशद विवेचन ऊपर किया जा चुका है।

छायावाद का अंतर्विश्लेषण

मनुष्य के हृदय में जन्म से ही सौंदर्य की प्रबल पिपासा वर्तमान रहती है। बालक का लाल-पीले रंग की ओर लपकना, टकटकी लगाकर देखना सौंदर्य-प्रियता का ही परिचायक है। यही सौंदर्य-प्रियता मानव को सौंदर्योपासना की ओर प्रवृत्त करती है। यह मनोवृत्ति मानव-स्वभाव से पूर्णतः संबद्ध है। सभी वस्तुओं को सुंदरतम रूप में देखने की हमारी नैसर्गिक अभिरुचि है। हम जहाँ रहते हैं, उसे सुंदर बनाते हैं; हम जो खाते हैं, उसे सुंदर बनाते हैं; हम जो पहनते हैं, उसे सुंदर बनाते हैं। इतना ही नहीं, हम अपने भावों को भी सौंदर्य-समन्वित देखना चाहते हैं। सौंदर्य ऐसा विशिष्ट गुण है, जिसके द्वारा हमारा हृदय आंदोलित हो उठता है, रोम-रोम पुलकित हो उठता है, और हम वस्तु-स्थिति को भूल जाते हैं। सौंदर्य की ओर बाल, वृद्ध, वनिता, सभी आकृष्ट होते हैं। यहाँ तक कि पशु-पक्षी भी सौंदर्य-पूर्ण वस्तुओं की ओर शीघ्र खिंच जाते हैं। मृग मुरली की मधुरतम ध्वनि श्रवण कर अपने को भूल जाता है, और मयूर उमड़ते हुए वारिधर का गर्जन-तर्जन सुनकर, आनंद-विह्वल होकर नृत्य करने लगता है, क्योंकि संगीत-माधुरी में सौंदर्य

का निवास है। सौंदर्य प्रयोजनीयता की संकुचित सीमा के परे है। उसका उद्देश्य आवश्यकता की पूर्ति नहीं, बल्कि आनंद की सृष्टि है। उपयोगी वस्तु से भौतिक सुख अवश्य प्राप्त होता है, किंतु उसके द्वारा आत्मिक आनंद मिलना असंभव है। मनुष्य की आकांक्षा आवश्यकता की पूर्ति से ही तुष्ट नहीं होती। सौंदर्य के लिये उसके हृदय में असीम आग्रह रहता है, जहाँ आनंद की तरल धारा में उन्मुक्तता का अधिवास है, बंधन और दासता का अभाव है। जीवन की रक्षा के लिये भोजन की आवश्यकता है, किंतु हमें रूखे-सूखे भोजन से ही संतोष नहीं हो जाता, हम उसकी स्वच्छता तथा सुंदरता के लिये भी लालायित रहते हैं। सत्तू-रोटी से पेट तो भर ही जाता है, फिर अच्छे भोजन के लिये हम उत्कंठित क्यों रहते हैं? अच्छे भोजन से प्रयोजन के अतिरिक्त स्वाद, रूप और गंध का भी लाभ होता है, जो आवश्यकता से अधिक है। मनुष्य शीत, ताप और वर्षा से बचने के लिये झोपड़ी का निर्माण करता है, परंतु उसे साफ़-सुथरा रखना, सजाना प्रभृति मानव-हृदय की सौंदर्यानुरागिता के परिणाम हैं। सौंदर्य की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसमें तृप्ति नहीं, उसमें संतोष नहीं है। उसे एक बार देखकर बारबार देखने की इच्छा होती है। किसी नवदंपति को एक दूसरे का मुख देखने पर संतोष नहीं होता, ठीक वही दशा सौंदर्य की भी है। मैथिल-कोकिल

विद्यापति की मधुरतम वाणी भी इसी सिद्धांत की पुष्टि कर रही है—

जनम अवधि हम रूप निहारल,
नयन न तिरपित भेल ।

सौंदर्य-परीक्षण तीन प्रकार से होता है—आँखों या इंद्रियों द्वारा, हृदय द्वारा और बुद्धि द्वारा। जो वस्तु आँखों को सुखद प्रतीत होती है, वह बुद्धि को अग्राह्य भी हो सकती है। इसीलिये जब तक वस्तु इन तीनो कसौटियों पर खरी नहीं उतरती, तब तक उसे सुंदर की संज्ञा नहीं दी जा सकती। सच्चा सौंदर्य आँखों को लुभाकर बुद्धि की स्वीकृति से हृदय में अपना स्थान बना लेता है। इंद्रिय-बोध के निर्णय द्वारा जो वस्तु अप्रिय और असुंदर सिद्ध हो चुकी है, वह तब तक असुंदर नहीं कहला सकती, जब तक उसकी असुंदरता की स्वीकृति बुद्धि न दे दे। वास्तविक सौंदर्य का अनुभव केवल इद्रियों द्वारा असंभव है। वस्तु की आंतरिक चमक को ही सौंदर्य कहते हैं। प्राकृतिक सुषमा अपने आभ्यंतरिक विशुद्ध सौंदर्य का प्रतिबिंब है। साधारणतः कुरूप मनुष्य को देखकर हम अपनी आँखें फेर लेते हैं, किंतु जब उसके गुणों का पता चलता है, और बुद्धि उसके सौंदर्य की स्वीकृति दे देती है, तब हमारा हृदय आनंद से भर जाता है, सिर श्रद्धा से उसके चरणों पर अवनत हो जाता है, और उस कुरूप चेहरे पर सौंदर्य उद्भासित होने लगता है। पहले मनुष्य वाह्य

सौंदर्य पर आकृष्ट होता है, तब हार्दिक सौंदर्य पर और अंत में बौद्धिक सौंदर्य पर। बालक पहले तड़क-भड़कदार रंगीन वस्तु की ओर लपकता है। जब उसके भावों का विकास हो जाता है, तब वह भाव-पूर्ण वस्तु की ओर आकृष्ट होता है, और सबसे पीछे ज्ञानमय सौंदर्य का अवलोकन कर आनंदानुभूति प्राप्त करता है। जहाँ इन तीनों का सम्मेलन हो, वहीं सौंदर्य का सच्चा स्वरूप विद्यमान मिलेगा। सभी व्यक्तियों के सौंदर्य का मानदंड एक नहीं, भिन्न-भिन्न होता है। साधारण व्यक्ति तड़क-भड़क, चमक-दमक पर आकृष्ट होता है, किंतु कला-निपुण व्यक्ति बाह्य सौंदर्य को उतना महत्त्व नहीं देता, जितना अंतः सौंदर्य को। जिस वस्तु को एक व्यक्ति सुंदर कहता है, दूसरा उसी को असुंदर की कोटि में परिगणित करता है। पहले सुंदर-असुंदर का विशिष्ट मानदंड था, उसी पर वस्तुओं का मूल्यांकन होता था, किंतु योरप से व्यक्तिवाद का प्रबल झोंका आया, और उसने हमारी इस धारणा को स्थिर नहीं रहने दिया। विज्ञान की दिन-प्रतिदिन होनेवाली उन्नति ने हमारे विश्वास को और भी कमजोर कर दिया। छायावाद-युग में सौंदर्य को कवियों ने व्यक्तिगत भावनाओं के साथ देखा। उनकी आकांक्षाएँ तृप्त करनेवाली वस्तु ही सुंदर सिद्ध हुई। आत्मनिरपेक्ष होकर सौंदर्यांकन की प्रवृत्ति का उस युग में अभाव है। कवियों ने प्रकृति को अपने सुख-दुःख की भावनाओं में लपेटकर देखा, और इस प्रवृत्ति

का अत्यधिक विकास हुआ। इस वैयक्तिकता के प्राधान्य के कारण ही छायावाद में भावुकता का आधिक्य परिलक्षित होता है। उसमें हृदय-प्रतिपादित सौंदर्य का ही विशेष दर्शन होता है। उसके वाह्य सौंदर्य के अंतर्भूत भी हार्दिकता का मधुर संस्पर्श है। छायावादी कवियों ने जहाँ सौंदर्य का अवलोकन किया है, वहाँ उनका व्यक्तिगत सुख-दुःख, आशा-अभिलाषा और सपना-कल्पना प्रत्यक्ष हो उठी है।

सौंदर्य कवियों को प्रेरणा प्रदान करता है। सौंदर्य-भावना के अभाव में किसी भी कला का निर्माण नहीं हो सकता। सभी कलाओं के मूल में सौंदर्य-भावना सन्निविष्ट रहती है। कुछ में आभ्यंतरिक सौंदर्य का अंतर्निवेश रहता है, और कुछ में वाह्य सौंदर्य का समीकरण। मानस और आत्मा का विकास मनुष्य का लक्ष्य है। इन दोनो की उन्नति शारीरिक विकास पर अवलंबित है, किंतु शारीरिक विकास ही सब कुछ नहीं है। वह साधन है, साध्य नहीं। उसे साध्य बना देने से हमें पाशवीय प्रेरणा मिलती है, और मानसिकता तथा आत्मिकता द्वारा हम देवत्व की ओर अग्रसर होते हैं। आत्मिकता परित्याग कर शारीरिकता की ओर उन्मुख होना पतन का परिचायक है। छायावाद-युग के पहले की कविताओं में जिस सौंदर्य को अपनाया जाता था, उसमें शारीरिकता की प्रधानता रहती थी, किंतु छायावाद का सौंदर्य आत्मिकता से ओत-प्रोत है। उसमें वासना को भड़कानेवाले व्यापारों के

चित्रण तथा गंदे मस्तिष्क की उपज—भद्दी अश्लीलता—का अभाव है। रीति-काल के कवियों की सौंदर्य-भावना बहुत संकुचित थी। उन लोगों की दृष्टि कमल-नयन, चंद्र-मुख, पनघट, चीर-हरण, रास-लीला, शरद्-जुन्हाई, 'बगर्‌यो बसंत है' आदि तक ही परिमित थी। उनका हृदय अंतः-सौंदर्य की ओर झाँकने में असमर्थ था। भारतेंदु अपने समय की क्रांति के प्रथम पोषक थे, लेकिन उनकी विलासिता समन्वित देश-भक्ति की ध्वनि हार्दिकता के अभाव के कारण लोगों का हृदय स्पंदित नहीं कर सकी। चेतना-शून्य तथा भावना-हीन कविता मानव-हृदय को तन्मयता नहीं प्रदान कर सकती। स्पंदनशील सौंदर्य अधिक आह्लादकारक और आकर्षक होता है। फूल और मनुष्य की सुंदरता एक नहीं, दोनो में बहुत अंतर है। हमें पहले मानवीय सौंदर्य आकर्षित करता है, तब फूल आदि का निस्पंद सौंदर्य। मनुष्य की चेतनता हमारी चेतनता से, उसके भाव हमारे भाव से और उसकी बुद्धि हमारी बुद्धि से मिलकर एक हो जाती है। बाह्य सौंदर्य के माधुर्य की अनुभूति अंतःसौंदर्य की अपेक्षा सरल है। पशु-पक्षी भी बाह्य सौंदर्य की ओर आकृष्ट हो जाते हैं, लेकिन अंतःसौंदर्य का दर्शन मानव-हृदय ही कर सकता है। बाँसुरी के स्वर की श्रुति-मधुरता सभी को विमुग्ध कर सकती है, परंतु उसके भाव-पूर्ण संगीत का माधुर्य कुछ परिमित व्यक्तियों के लिये ही आकर्षक सिद्ध हो सकता है। इसी

अंतःसौंदर्य के समावेश में कविता की मर्मस्पर्शिता बढ़ जाती है। छायावाद एक जागृति लेकर, एक उत्क्रांति लेकर हिंदी-जगत् में आया। काव्यगत सौंदर्य की परिमिति विस्तृति में परिवर्तित हुई। उसकी अंतर्दृष्टि स्थूल सौंदर्य से आगे बढ़कर अंतःसौंदर्य की ओर गई, और वहाँ अपने को भुला बैठी। अतएव उसमें चेतना-शून्य एकांत सौंदर्य का सर्वथा अभाव है। उसमें आत्मिक सौंदर्य के चित्रण की ओर ही अधिक ध्यान रहता है। बहुत स्थल पर बाह्य सौंदर्य का अंकन भी किया गया है, लेकिन उसमें श्लीलता और शालीनता का अभाव नहीं है। स्थूल सौंदर्य का चित्रण पाप नहीं है, किंतु केवल सौंदर्य की शारीरिकता ग्रहण करने से काव्य में मधुरिमा तथा मृदुलिमा उपलब्ध नहीं होती। माधुर्य तथा मर्मस्पर्शिता के अभाव में कविता कविता नहीं रह जाती। सच्ची कविता पढ़ते-पढ़ते मानव अपनी सत्ता भूल जाता और काव्य के सुखद लोक में विचरण करने लगता है।

कविता जीवन की अभिव्यक्ति है। कविता जीवनमय है, और जीवन कवितामय। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में एक ऐसा अवसर आता है, जब वह कवि की स्थिति प्राप्त करता है, किंतु अपढ़ गँवार अपनी अनुभूति को, अपनी तड़प को छंदों द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता। जैसे छाया का शरीर से अविच्छेद्य संबंध है, ठीक वैसे ही जीवन से कविता का।

जीवन की कठोर यथार्थता कविता को अभीष्ट नहीं, क्योंकि उसे आश्रय देकर वह अपनी मार्मिकता की रक्षा नहीं कर सकती। जीवन-व्याप्त सत्य के दो भेद किए जा सकते हैं—भौतिक सत्य और काल्पनिक सत्य। तर्क-प्रवृत्ति द्वारा भौतिक सत्य की और भावना द्वारा काल्पनिक सत्य की सृष्टि होती है। भौतिक सत्य के मूलाधार व्यावहारिक जीवन के उपादेय तथ्य हैं, जिनके द्वारा विज्ञान-संबंधी शास्त्रों का प्रतिपादन होता है। काल्पनिक सत्य काव्य का स्रष्टा है, किंतु इसका अभिप्राय यह नहीं कि काव्यगत सत्य जीवन से सर्वथा असंबद्ध रहता है। जीवनगत सत्य में यदि वास्तविकता की भीषणता रहती है, तो काव्यगत सत्य में कल्पना की मधुरता, जो अंतर्जगत् की स्निग्धता पाकर अभिवृद्ध होती है। काव्यगत जीवन का आधार प्राकृत जीवन का प्रभाव होता है। जीवन की सत्ता का प्रभाव किसी भी प्रकार जीवन से विभिन्न नहीं हो सकता। प्राचीन काव्य-ग्रंथ हमारे अतीत जीवन के परिचायक हैं। कविता का अध्ययन जीवन की वास्तविकता का बोध कराता है। वेद-युग में हमारा जीवन सरल तथा शांतिमय था, इसीलिये तत्कालीन साहित्य जीवन की उलझनों से बचा रहा। क्रमशः रामायण और महाभारत-काल में जटिलता बढ़ती गई, जिसका ज्ञान उन ग्रंथों से ही हो जाता है। आज तो जीवन एक पहेली बन गया है, और इसीलिये नवीन काव्य में उलझनों को सुलझाने की प्रवृत्ति अधिक है। कविता

और जीवन के अन्योन्याश्रय संबंध के दिग्दर्शन के लिये इतना ही यथेष्ट होगा।

छायावाद भी अपने युग का प्रभाव लेकर अभिव्यक्त हुआ है। जीवन को देखने का उसका निजी दृष्टिकोण है। वह स्वतंत्र जीवन का प्रेमी है, किंतु स्वेच्छाचारिता-पूर्ण स्वतंत्रता उसकी दृष्टि में घृण्य है। उसके वास्तविक जीवन का आदर्श सरिता है। सरिता स्वतंत्र होकर भी अपने पुलिनों की मर्यादा में सीमित है। जीवन के लिये स्वतंत्रता आवश्यक है, किंतु वह मर्यादाशील हो। स्वेच्छाचारिता जीवन को विकृत बनाकर समाज की प्रगति को अवरुद्ध कर देती है। वहाँ मधुरता उपलब्ध नहीं होती। स्वातंत्र्य के साथ मनुष्य को उत्तरदायित्व का बड़ा भारी बोझ भी प्राप्त हो जाता है। इसीलिये इस युग का कवि जीवन का शाश्वत आदर्शवाद-पूर्ण, असंयमित सरिता में नहीं देखता, स्वाभाविक गति से बहनेवाली मर्यादित सरिता को ही वह अनुकरणीय समझता है, क्योंकि उसकी गति सरलता तथा वक्रता से पूर्ण है, और वह निर्मलता तथा सजलता से संयुक्त है।

आत्मा है सरिता के भी, जिससे सरिता है सरिता;
जल जल है, लहर लहर रे, गति गति, सृति सृति चिर-भरिता।

—पंत

सृष्टि की नश्वरता से छायावाद अधिक प्रभावित है। जीवन के उल्लास-विलास, माधुर्य-सौंदर्य ने भी कवि को

सतत आकर्षित किया है, किंतु विनाशशीलता को वह एकदम भुला नहीं सका। सृष्टि अशांति का स्थल है, और जीवन संग्रामों से परिपूर्ण है। सृजन, सिंचन और संहार सृष्टि के मूलभूत कार्य हैं, किंतु जीवन की असारता ने उसके हृदय में व्यापकता नहीं प्राप्त की। उसका विश्वास है, इस कोलाहल-पूर्ण सृष्टि में आत्मा कभी शांति नहीं पा सकती, क्योंकि शांति-लोक तो 'उस पार' में सुरक्षित है।—

कहाँ नश्वर जगती में शांति ?
सृष्टि ही का तात्पर्य अशांति !
जगत अविरत जीवन संग्राम,
स्वप्न है यहाँ विराम !

—पंत

जिस समय छायावाद-युग अपने विकास पर था, उस समय अन्य देशों में आस्तिकता का एकदम विनाश-सा हो चुका था, और ईश्वर-विरोधी भावना जोर पकड़ रही थी, किंतु छायावाद आस्तिकता से पूरा प्रभावित है। छायावाद में जो थोड़ी-बहुत रहस्यात्मकता पाई जाती है, उसे आस्तिकता का ही प्रभाव समझना चाहिए। उसमें धार्मिक कट्टरता तथा अंध-भक्ति का अभाव है। वह सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में उस असीम सत्ता का प्रतिबिंब देखता है। उसकी धारणा है, हम लोग एक ही ज्योति के अनेक दीप तथा एक ही सुषमा के अनेक नक्षत्र हैं, जिनमें उस सत्ता का ही स्पंदन होता है।

जिस कविता में धर्म-विद्वेष की भावना तथा ईश्वर के प्रति अविश्वास प्रकट होता है, वह छायावाद-युग के बाद की रचना है, जिसमें मार्क्सवाद की विचार-धारा का प्रभाव है। अत्यधिक धार्मिकता का नाश भक्ति-काल के बाद ही हो गया था, किंतु बीसवीं शताब्दी के दूसरे चरण में—जब छायावाद अपनी अंतिम साँस गिन रहा है, और प्रगतिवाद उन्नति के पथ पर है—उसने नास्तिकता का रूप धारण कर लिया है।

सुख और दुःख द्वारा जीवन का परिचालन होता है। आदर्श तथा कर्तव्य के निर्धारण में, सभ्यता तथा संस्कृति के निर्माण में सुख-दुःख का बहुत प्रभाव है। उनके द्वारा हमारी प्रवृत्ति, चरित्र, विचार आदि का गठन होता है। उन दोनो के अभाव में मानव-जीवन स्पंदित नहीं रह सकता। सुख या दुःख किसी एक की प्रमुखता जीवन को प्राण-शून्य बना देती है। मानव-जीवन में सुख-दुःख आलिंगन की बाहुओं के सदृश संबद्ध है। एक ही आलिंगन में सम्मिलन का हर्ष है, और उसी के साथ वियोग-जनित विषाद। वस्तुतः जीवन सुख-दुःख की समष्टि-मात्र है—

जग-जीवन में है सुख-दुख;
सुख-दुख में है जग जीवन।

—पंत

सुख में अत्यधिक आकर्षण है। इसीलिये मानव-हृदय

सुख-प्राप्ति के लिये अधिक प्रयत्नशील रहता है, किंतु उसी प्रयत्नशीलता में मानव-कर्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती— इससे आगे भी उसका कुछ कर्तव्य है। आनंद के द्वारा हमारी आत्मा परितुष्ट होती है, इसीलिये उस ओर विशेषोन्मुख होना स्वाभाविक है, किंतु एक ऐसी भी स्थिति है, जब हम जान-बूझकर अपनी आत्मा को विपत्ति के दुर्वह भार से उत्पीड़ित कर सुख का अनुभव करते हैं। उसी जगह मानवता उज्ज्वल विकास पाती है। छायावाद में जीवन के सुनहले अध्याय के लिये केवल आग्रह नहीं है, वरन् उसके हृदय में संतप्त प्राणों के निःश्वास के प्रति भी समवेदना निहित है। जीवन के हास, मधुरिमा, सुषमा और प्रकाश की ओर तो लोगों का आकर्षण निसर्ग-सिद्ध है। उसके प्रति आग्रह उतना महत्त्व नहीं रखता। खिलती कलियाँ, नील कमल पर हँसते हिम-हीरक और यौवन की सुषमा देखकर आनंद-विह्वल हो जानेवाले बहुत हैं, किंतु जीवन की जर्जरता, अधरों की म्लानता तथा मूर्च्छित पलकों की सजलता पर विरले ही व्यक्ति समव्यथित होते हैं। छायावाद में मादक सौंदर्य के आग्रह के साथ ही जीवन के क्रंदन के प्रति भी विशेष लालसा संचित है। प्रकाश और अंधकार, सुख और दुःख दोनो के प्रति उसके हृदय में एक-सा भाव है, दोनो का महत्त्व उसकी दृष्टि में समान है। इसीलिये समय-समय पर वह द्वंद्व से अस्थिर हो उठता है कि किसे अपनावे ?

कह दे मा, क्या अब देखूँ ?
देखूँ खिलती कलियाँ, या
प्यासे, सूखे अधरों को ?
तेरी चिर यौवन-सुषमा,
या जर्जर जीवन देखूँ ?
देखूँ हिम - हीरक हँसते,
हिलते नीले कमलों पर ?
या मुरझाई पलकों से
झरते आँसू - कण देखूँ ?

—महादेवी

जगत् में जन्म पाकर मानव सुख और दुःख को भूल नहीं सकता। जन्म के बाद से ही उसके हृदय में इन दोनो भावों की अवस्थिति रहती है। प्रारंभिक अवस्था में शिशु-रूप मानव अपने सुख-दुःख की अभिव्यक्ति रुदन और हास्य द्वारा प्रकट करता है। जब उसकी इच्छा के प्रतिकूल कोई कार्य होता है, तब वह रो-रोकर घड़ों आँसू बहाता है, और अपनी अनुकूलता देखकर किलकारियाँ भरता है, हाथ-पैर उछालता है, मर्म-रहित मुसकान से पृथ्वी को आप्लावित कर देता है। छाया और प्रकाश के समान सुख-दुःख सापेक्ष है। न सुख दुःख से निरपेक्ष होकर रह सकता है, और न दुःख सुख से। एक की सत्ता दूसरे से अलग नहीं हो सकती। प्रकाश के नाम से छाया का भी बोध हो जाता है। यदि जगत् में केवल

प्रकाश ही रहता, छाया नहीं, तो प्रकाश महत्त्व-शून्य दिखलाई पड़ता। सुख का महत्त्व इसीलिये है कि जगत् में दुःख का अवस्थान है। अगर संसार में सुख-ही-सुख रहता, तो उसे याद करने की भी आवश्यकता न रह जाती। दुःखानुभूति ही सुख की महत्ता बतलाती है। अंधकार-पूर्ण रात्रि के बाद ही प्रकाश-पूर्ण दिवस प्रिय मालूम होता है। दोपहर के प्रखर उत्ताप के बाद ही संध्या की अरुणिमा-रंजित सुषमा हृदय में आनंद-संचार करने में समर्थ होती है। सुख तभी तक सुख है, जब तक दुःख की सत्ता वर्तमान है; नहीं तो—

> बिना दुःख के सब सुख निस्सार;
> बिना आँसू के जीवन भार।
>
> —पंत

अलग-अलग चिरसुख और चिरदुःख का कोई महत्त्व नहीं। इसीलिये छायावाद न तो अविरत सुख की कामना करता है, और न अविरत दुःख की ही। वह सुख-दुःख के सम्मेलन का आकांक्षी है। वह चाहता है, जीवन के साथ सुख-दुःख का वैसा ही संबंध रहे, जैसा सरिता के साथ दोनो पुलिनों का रहता है—

> चिरमिलन - विरह - पुलिनों की
> सरिता हो मेरा जीवन;

प्रतिपल होता रहता हो
युग कूलों का आलिंगन।

—महादेवी

यही भाव दूसरी जगह इस प्रकार अभिव्यंजित हुआ है—

सुख-दुख के मधुर मिलन से,
यह जीवन हो परिपूरन ;
फिर घन से ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन।

—पंत

छायावाद को सुख-दुःख की आँख-मिचौनी ही अभिप्रेत है। दिन-रात के समान सुख-दुःख का आगमन-प्रत्यागमन ही उसकी दृष्टि में महत्त्व-पूर्ण है।

गतिशीलता जीवन की परिचायिका है। जिस दिन मानव अपने आदर्श की सीमा तक पहुँच जायगा, वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति में समर्थ हो जायगा, उस दिन जीवन का अविश्रांत कोलाहल शांत हो जायगा, और मानव-हृदय में जीवन के प्रति अनुराग के बदले विराग स्थान ग्रहण करेगा। आनंद की सरसता के लिये ही मनुष्य जीवन-संग्राम में विपत्तियों से जूझता चलता है। जिस दिन उसे शुष्कता का थोड़ा-सा भी अनुभव होगा, उसी दिन वह जीवन का दुर्वह भार ढोने में अपने को असमर्थ पाएगा। सुख और विजय हमें इसलिये प्रिय हैं कि हम उनके लिये सदा प्रयत्नशील रहते हैं। वह

हमारे जीवन की काम्य वस्तु है। अभीष्ट-प्राप्ति के प्रयत्न में आनंद सुरक्षित रहता है। प्राप्ति में हमें उतना आनंद नहीं होता, जितना यत्नशीलता में। साधना के अभाव में लब्ध सुख और विजय का कोई महत्त्व नहीं। वस्तुतः साधना में ही आनंद निहित है, उसी में जीवन की सार्थकता है—

तरसते हैं हम आठो याम,
इसीसे सुख अति सरस, प्रकाम;
झेलते निशि-दिन का संग्राम,
इसी से जय अभिराम।
अलभ है इष्ट, अतः अनमोल;
साधना ही जीवन का मोल!

—पंत

जो साध्य की प्राप्ति की अपेक्षा अविराम साधना को ही उत्तम समझता है, उसके लिये यह आवश्यक है कि वह कामनाओं की तृप्ति की आकांक्षा को तिलांजलि देकर इष्ट-साधन की पिपासा को ही सर्वदा जागरूक बनाए रक्खे। इसीलिये उसकी अभिलाषा है—

मेरे छोटे जीवन में देना न तृप्ति का कण भर;
रहने दो प्यासी आँखें भरती सरिता के सागर।

—महादेवी

मानवता का लक्ष्य पूर्णता की प्राप्ति है, किंतु सांसारिक उलझनों में फँसकर आत्मा लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाती है, और

जीवन की अपूर्णता पूर्ववत् बनी रहती है। अतएव सच्चे आनंद की प्राप्ति नहीं होती। पूर्णता में ही शाश्वत आनंद उपलब्ध हो सकता है। चिरंतन सत्य के द्वारा ही उद्देश्य-सिद्धि संभव है; लेकिन केवल सत्य ही जीवन के लिये अपेक्षित नहीं है। शिव और सुंदर के सम्मिश्रण में ही सत्य समुद्भासित होता है। पार्थिवता और आत्मिकता का मधुर समन्वय जीवन को पूर्णता प्रदान करता है। मनुष्य अपनी अपूर्णता को ही चिर ध्येय समझ लेता है, पूर्णता प्राप्त करने का लक्ष्य भूल जाता है, लेकिन वह चरम लक्ष्य भुला देने की वस्तु नहीं है। इसीलिये छायावाद 'रच जीवन की मूर्ति पूर्णतम' के लिये विकल है।

यह सृष्टि उस अनंत का व्यक्तरूप है। जगत् के रूपों और व्यापारों में असीम सत्ता की आत्मा का निवास है। उनमें अनंत का आभास प्राप्त कर आनंद-विह्वल हो जाना मुक्ति है। संतों और वैष्णव कवियों ने मुक्ति को दुर्लभ वस्तु बतलाया है। उसकी प्राप्ति के लिये कठिन साधना की आवश्यकता होती है, जिसके चलते आत्मा की मुक्ति तो दूर ही रह जाती है, और मुक्ति का अभिलाषी स्वयं मुक्ति-प्रयत्न के नवीन, किंतु दृढ़ बंधन में पूर्णतया आबद्ध हो जाता है। मुक्ति के लोभ में मुक्तिजन्य आनंद का उपभोग नहीं कर सकता —

है सहज मुक्ति का मधु क्षण,
पर कठिन मुक्ति का बंधन।
—पंत

संत कवियों का लक्ष्य विराग द्वारा ईश्वर-प्राप्ति होने के कारण उसकी विचार-धारा में जीवन की अत्यधिक उपेक्षा हुई है। उन लोगों ने जीवन की असारता प्रतिपादित कर साध्य की ओर आकर्षित किया है। भक्त कवियों ने भी मानव-जीवन से अधिक प्रभुमय जीवन को ही महत्त्व दिया है, किंतु छायावाद-युग में मानव-जीवन अनुराग से दीप्त तथा आत्म-विश्वास से सशक्त हो उठा है। परमात्मरूप की अनुभूति वह मानव में ही प्राप्त करना चाहता है। वह 'सबार उपरे मानुष सत्य' की चरितार्थता के लिये व्याकुल है। उसकी दृष्टि में जीवन में विराग की सृष्टि करनेवाली मुक्ति का कोई महत्त्व नहीं। वह बंधन-पूर्ण जीवन को ही प्रेम के अमृतमय प्रभाव से मुक्त बना देना चाहता है—

न्योछावर स्वर्ग इसी भू पर,
देवता यही मानव शोभन;
अविराम प्रेम की बाँहों में
है मुक्ति यही जीवन-बंधन!

—पंत

बलिदान चिरजीवन प्रदान करता है, लेकिन हमारे हृदय में उस पवित्र प्रवृत्ति का जागरण भी नहीं होता, क्योंकि हमारे अगल-बगल स्वार्थों का उलझन-भरा ऐसा वातावरण रहता है कि हम उसी में खो-से जाते हैं। हमारी दृष्टि के सामने नित्य-प्रति बलिदान के समुज्ज्वल रूप दिखाई पड़ते हैं। एक बीज

गलकर असंख्य बीजों की सृष्टि करता है, नवीन पत्तों के लिये पुराने पत्ते पेड़ की डालियाँ छोड़ देते हैं, और म्लान फूलों की मुसकान फल के उज्ज्वल हास में परिवर्तित हो जाती है, मगर उनसे हमें किसी प्रकार की चेतना नहीं प्राप्त होती। कवि अपने सुख-दुख में पुलकित और समव्यथित होनेवालों को नहीं चाहता। वह अपना सुख हँसकर और अपना दुख रोकर समाप्त कर लेगा, लेकिन दुनिया के आँसू पोछनेवाले उसकी नजर में नहीं दिखलाई पड़ते। जगत् की दीनता में 'रुग्ण जीवन-बाला' को देखकर उसके हृदय में 'महत है अरे, आत्मबलिदान!' भावना जाग्रत् होती है, और इसीलिये वह कहता है—

मेरे हँसते अधर नहीं, जग
की आँसू-लड़ियाँ देखो;
मेरे गीले पलक छुओ मत,
मुरझाई कलियाँ देखो।
—महादेवी

जगत् के दुःख में हाथ बँटाने में ही वस्तुतः जीवन की सार्थकता है। विश्व-वेदना में गलकर ही जीवन पवित्र और कोमल हो सकता है। इसीलिये जगत् की ज्वाला में जलने-वालों को ही उसने अधिक महत्त्व प्रदान किया है—

जग जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष, उज्ज्वल औ' कोमल।
—पंत

यह प्रवृत्ति भारतीय संस्कृति की अनुपम विभूति है। परितृप्त मानवता के लिये इतनी करुणा की अमर निधि किसी विदेशी संस्कृति में मिलना असंभव है। इस अत्यधिक करुणा के परिणाम-स्वरूप ही भारत को समय-समय पर विपत्तियों का सामना करना पड़ा है, किंतु फिर भी उसके हृदय में दुखिया जग के लिये पूर्ववत् करुणा सुरक्षित है। उसका विश्वास है, वह करुणा का परिपोषण करके ही मानवता की रक्षा कर सकेगा—

भुनती वसुधा, तपते नग,
दुखिया है सारा अग-जग;
कंटक मिलते हैं प्रति पग,
जलती सिकता का यह मग!
बह जा बन करुण की तरंग,
जलता है यह जीवन-पतंग!

—प्रसाद

और दूसरी जगह विश्व की यही कल्याण-भावना इस प्रकार हुई है—

विश्व-भर का हो भला!
विश्व भर को प्राप्त हो नव
ज्ञान, नित नव नव कला!

—जानकीवल्लभ शास्त्री

छायावाद का सौंदर्य आत्मिकता के विमल प्रकाश से उद्दीप्त है, और उसका आदर्श जीवन की संयतता है। अनुराग उसकी मुक्ति का साधन है, और साध्य-प्राप्ति की अतृप्त वासना उसका चिरध्येय। उसकी दृष्टि में उस जीवन का ही अधिक महत्त्व है, जिसमें सुख-दुःख का मधुर आलिंगन तथा बलिदान की पवित्र भावना का समन्वय हो। छायावाद ने जीवन पर, उसकी विभिन्न शाश्वत समस्याओं पर नूतन ढंग से विचारा है, सोचा है, और अध्ययन किया है।

एक विद्वान् के शब्दों में—"प्रेम विश्व की केंद्रोन्मुख शक्ति है।" मनुष्य के प्रत्येक कार्य के मूल में प्रेम सन्निविष्ट रहता है। वह जीवन में सजीवता तथा आकर्षणकारिता की सृष्टि करता है। मानव-जीवन के उल्लास, आनंद, हर्ष, सुख आदि प्रेम के परिणाम हैं। प्रेम में ऐसी महती शक्ति का अधिवास है, जिसके द्वारा असुंदर सुंदर में परिवर्तित हो जाता है। प्रेम इस कुत्सामय संसार से ऊपर उठाकर स्वर्ग की उच्चता प्रदान करता है। इसमें आशा, प्रतीक्षा तथा मिलन की उत्कंठा है, और भोग-वासना तथा अशांति का अभाव। उसके द्वारा जीवन में चेतनता का आगमन होता है। उसकी भित्ति सौंदर्य की भावना पर अवस्थित है। सौंदर्य का मूलाधार रूप है। अतएव थोड़ी दूर तक शारीरिकता तथा स्थूलता क्षम्य हो सकती है। जब सौंदर्य-भावना एकमात्र स्थूलता को ही आधार मानकर चलती है, और उसमें मोह तथा प्राप्ति की प्रबल आकांक्षा

रहती है, तब प्रेम अपनी पवित्रता की रक्षा नहीं कर सकता। पुनीत प्रेम आत्मार्पण की भावना से जीवित रहता है। उसमें अधिकार की थोड़ी-सी भी बू नहीं आती। रीति-काल की अधिकांश कविताओं में इस आध्यात्मिक प्रेम का सर्वथा अभाव है। तत्कालीन शृंगारिक रचनाओं में प्रेम के नाम पर कुत्सित वासना की प्रचुरता है। पवित्र प्रेम का जीवन और साहित्य में बहुत महत्त्व है। वह हृदय को पतन की ओर नहीं ले जाता, वरन् उसे निर्मल तथा पवित्र करने का प्रयत्न करता है। उसमें उद्वेग तथा अशांति एकदम ही नहीं रहती। पवित्र प्रेम का अत्युत्कृष्ट उदाहरण कवींद्र रवींद्र की गीतनाटिका, 'मायार खेला' में मिलता है। शांता कहती है—"यदि तुम्हें सुख की प्राप्ति नहीं होती, तो सुखानुसंधान में जाओ। मैं तुम्हें अपने हृदय में ही पा जाती हूँ। मुझे और किसी चीज की जरूरत नहीं।"—

"तुमि सुख यदि ना पाओ,
जाओ, सुखेर संधाने जाओ;
आमि तोमार पेयेछि हृदय माँझे,
आर किछु नाहिं चाइगो।"

पवित्र प्रेम की वास्तविकता का दर्शन यहीं होता है। यहाँ अपने प्रियतम पर अधिकृति की भावना का एकदम अभाव है। प्रियतम की उपेक्षा भी उसे नहीं अखरती, क्योंकि वह तो उसके अंतर की वस्तु बन गया है। यह प्रेम की उच्च भूमि

है। यहाँ तक पहुँचना बहुत ही कठिन है। छायावाद की शिरा-उपशिरा में प्रेम की यही उच्चता व्याप्त है, क्योंकि छायावाद प्राचीनता के प्रति नवीनता का विद्रोह है। अतएव स्थूल तथा वासनामय शृंगारिकता की, जिसकी रीति-काल में प्रचुरता थी, प्रतिक्रिया के कारण छायावाद का प्रेम पावनता तथा निर्मलता से ओत-प्रोत है। पवित्र प्रेम की प्रेरणा के मूल में सौंदर्योपभोग की वासना का अभाव रहता है। प्रियतम के प्रति उसका आकर्षण आप-से-आप जाग्रत् हो उठता है, जिसे वह अपने हृदय की पुकार समझता है। प्रेम के जगते ही प्रेमी अपने प्रिय को तन-मन देने को वाध्य हो जाता है। प्रेम की इस आध्यात्मिकता की तुलना जगत् की किसी भी वस्तु से नहीं हो सकती। यहीं पहुँचकर मनुष्य सच्चा प्रेमी होने का दावा कर सकता है—

तेरी रंगभूमि तक प्रियतम,
पहुँच सकी मैं कैसे ?
पूछो मत, अब तक न ज्ञात है
यह रहस्य कुछ मुझको।
मूक पुकार समझ मानस की
देख रही हूँ तुझको !

—लक्ष्मीनारायण मिश्र

प्रेम का यह आध्यात्मिक स्वरूप साहित्य की श्री, सौरभ और सुषमा को अभिवृद्ध करता है। भोग-विलास तथा कलुषित

रहती है, तब प्रेम अपनी पवित्रता की रक्षा नहीं कर सकता। पुनीत प्रेम आत्मार्पण की भावना से जीवित रहता है। उसमें अधिकार की थोड़ी-सी भी बू नहीं आती। रीति-काल की अधिकांश कविताओं में इस आध्यात्मिक प्रेम का सर्वथा अभाव है। तत्कालीन शृंगारिक रचनाओं में प्रेम के नाम पर कुत्सित वासना की प्रचुरता है। पवित्र प्रेम का जीवन और साहित्य में बहुत महत्त्व है। वह हृदय को पतन की ओर नहीं ले जाता, वरन् उसे निर्मल तथा पवित्र करने का प्रयत्न करता है। उसमें उद्वेग तथा अशांति एकदम ही नहीं रहती। पवित्र प्रेम का अत्युत्कृष्ट उदाहरण कवींद्र रवींद्र की गीतनाटिका, 'मायार खेला' में मिलता है। शांता कहती है—"यदि तुम्हें सुख की प्राप्ति नहीं होती, तो सुखानुसंधान में जाओ। मैं तुम्हें अपने हृदय में ही पा जाती हूँ। मुझे और किसी चीज की जरूरत नहीं।"—

"तुमि सुख यदि ना पाओ,
जाओ, सुखेर संधाने जाओ;
आमि तोमारे पेयेछि हृदय माँझे,
आर किछु नाहि चाइगो।"

पवित्र प्रेम की वास्तविकता का दर्शन यहीं होता है। यहाँ अपने प्रियतम पर अधिकृति की भावना का एकदम अभाव है। प्रियतम की उपेक्षा भी उसे नहीं अखरती, क्योंकि वह तो उसके अन्तर की वस्तु बन गया है। यह प्रेम की उच्च भूमि

है। यहाँ तक पहुँचना बहुत ही कठिन है। छायावाद की शिरा-उपशिरा में प्रेम की यही उच्चता व्याप्त है, क्योंकि छायावाद प्राचीनता के प्रति नवीनता का विद्रोह है। अतएव स्थूल तथा वासनामय शृंगारिकता की, जिसकी रीति-काल में प्रचुरता थी, प्रतिक्रिया के कारण छायावाद का प्रेम पावनता तथा निर्मलता से ओत-प्रोत है। पवित्र प्रेम की प्रेरणा के मूल में सौंदर्यो-पभोग की वासना का अभाव रहता है। प्रियतम के प्रति उसका आकर्षण आप-से-आप जाग्रत् हो उठता है, जिसे वह अपने हृदय की पुकार समझता है। प्रेम के जगते ही प्रेमी अपने प्रिय को तन-मन देने को बाध्य हो जाता है। प्रेम की इस आध्यात्मिकता की तुलना जगत् की किसी भी वस्तु से नहीं हो सकती। यहीं पहुँचकर मनुष्य सच्चा प्रेमी होने का दावा कर सकता है—

तेरी रंगभूमि तक प्रियतम,
पहुँच सकी मैं कैसे ?
पूछो मत, अब तक न ज्ञात है
यह रहस्य कुछ मुझको।
मूक पुकार समझ मानस की
देख रही हूँ तुझको !

—लक्ष्मीनारायण मिश्र

प्रेम का यह आध्यात्मिक स्वरूप साहित्य की श्री, सौरभ और सुषमा को अभिवृद्ध करता है। भोग-विलास तथा कलुषित

प्रेम की भित्ति पर स्थित होकर साहित्य विश्व को किसी प्रकार का संदेश नहीं दे सकता। छायावाद के कवियों ने देखा, हिंदी-साहित्य ने प्रेम की आध्यात्मिकता को विस्मृत कर दिया है, और कुत्सामय प्रेम की ओर बढ़ रहा है. जिसमें शारीरिक आकर्षण तथा कलुषित वासना-रंजन का आधिक्य है। अधिकार तथा उपभोग की लालसा-रहित उच्च प्रेम का, जिसमें प्रेमी अपने जीवन को प्रिय के लिये उत्सर्ग कर देता है, अभाव देखकर कवि व्याकुल हो उठता है। प्रेम का उच्च आदर्श संकुचितता की सीमा में आबद्ध हो गया है। इस प्रवृत्ति ने छायावाद के कवियों को अधिक चोट पहुँचाई है। इसीलिये हम उनकी कविता में तज्जन्य व्यथा का स्वर सुनते हैं—

प्रणय की महिमा का मधु मोद,
नवल सुषमा का सरल विनोद,
विश्व-गरिमा का जो था सार,
हुआ वह लघिमा का व्यापार।

—प्रसाद

छायावाद में पवित्र प्रेम के लिये अत्यंत उत्कंठा है। वह प्रेम का ऐसा समुज्ज्वल रूप उपस्थित करना चाहता है, जिसे देखकर जगत् चकित हो जाय। जब वह अपने बिछुड़े प्रिय के प्रेम के समुद्र में डुबकियां लगाता और वियोगजन्य संताप से आंसू की धारा प्रवाहित करता है, तब उसके हृदय की ईर्ष्या, वासना तथा अहंकार का विनाश हो जाता है,

और वह अनुपम आनंद का उपभोग करता है, जिसका अनुमान कोई नहीं कर सकता। यही प्रेम का आध्यात्मिक सौंदर्य है, जो मानव-हृदय को स्वार्थ की संकुचित भूमि से ऊपर उठा ले जाता है—

जब मेरा चिर-संचित प्यार
उमड़ उदधि-सा अतल, अपार
अपने नीरव गूढ़-गर्भ में
मुझे डुबाता है गंभीर,
मोह, मदन, मद का मल मेरा
धो देता है जब दृग-नीर
तब मेरे सुख का अनुमान
क्या तू कर सकती है प्राण!

—पंत

छायावाद सतत उस विशुद्ध तथा स्वच्छ प्रेम की अभिलाषा करता है, जो पावनता की मधुर धारा से आप्लावित है, जिसमें मलिनता तथा संकीर्णता का थोड़ा-सा भी अंश परिव्याप्त नहीं, और जिसके द्वारा मलिन मोह और वासना का भयावह संसार विनष्ट हो जाता है। देखिए—

मेरे तिमिर भरे अंतर में
एक बार प्रिय! ढार प्यार के
नवप्रकाश की धार,
नहाकर जिसमें मेरे प्राण,

वहा दें मलिन मोह के पाप।
दाह की दारुणता के साथ
निकल भागें सारे संताप;
निखर जाएँ, हो विगत विकार
वासना का काला संसार!

—द्विज

यह वासना-हीन तथा अकालुष्य-पूर्ण प्रेम की उपासना छायावाद की खास विशेषता है, जिसके द्वारा हिंदी-साहित्य बहुत ऊँचा उठ गया है। समर्पण की भावना से युक्त इस पवित्र-प्रेम का महत्त्व ईश्वर-भक्ति-पूर्ण कविता से कहीं अधिक है। आध्यात्मिक प्रेम की यह सुंदरता मनुष्य को अनंत सत्ता के मिलन की अनुभूति प्रदान करती है, जहाँ मुक्ति से भी अधिक आनंद सुरक्षित है।

छायावाद में संयोग-जनित प्रेम की अपेक्षा वियोग-जन्य प्रेम का ही आधिक्य है। संयोग में हृदय उतना तल्लीन नहीं होता, जितना वियोग में। वियोग में ही प्रेम की सार्थकता तथा मार्मिकता प्रतीत होती है, और वही प्रेम की सच्ची कसौटी है। संयोग का सुख क्षणस्थायी और वियोग का दुःख स्थायी होता है। संयोग जीवन के ऊपरी स्तर का स्पर्श करता है, किंतु वियोग हृदय के तारों की झंकृति का स्वर प्रदान कर जीवन में अनुपम आनंद की सृष्टि करता है। संयोग यदि प्रेम की समाप्ति है, तो वियोग प्रेम का

मधुर समारंभ। एक सुषुप्ति है, तो दूसरा जागृति। संयोग-कालीन प्रेम की धारा मंथर गति से प्रवाहित होती है, परंतु वियोग में प्रेम का प्रवाह तीव्रतर हो जाता है। संयोग-सुख की अपेक्षा वियोग की वेदना का चित्रण कवि मार्मिकता के साथ कर सकता है, और उसमें काव्यत्व की प्राप्ति भी अधिक मात्रा में होती है, क्योंकि दुःख में हमारी वृत्ति की तल्लीनता अभिवृद्ध हो जाती है। आत्मिक सुख की उपलब्धि के लिये वियोग की ज्वाला में जलना छायावाद का अपना आदर्श है। प्रेम की इसी आध्यात्मिकता से छायावाद अनुप्राणित है, जहाँ प्रेमी और प्रिय की सत्ता में कोई अंतर नहीं रह जाता। यह ऐकात्म्य प्रेम जीवन को पुनीतता, विशालता तथा उच्चता प्रदान करता है, और इसकी काव्य-जन्य अभिव्यक्ति साहित्य की शक्ति तथा स्थायित्व बढ़ाती है।

रीति-काल में "बावड़ियों में कुत्सित प्रेम का फुहारा शत-शत रस-धारों में" छूट रहा था, "कुंजों से उद्दाम यौवन की दुर्गंध" निःसृत हो रही थी, कुटनी दूतियाँ "बहती नदी पायँ पखारि ले री" का उपदेश दे रही थीं, और कुलीन स्त्रियाँ अपने पतियों को छोड़कर कृष्णाभिसार तथा शुक्लाभिसार में व्यस्त थीं। इस वासना-पूर्ण, कलुषित, स्थूल शृंगारिकता के प्रति भारतेंदु-काल में कुछ आवाज उठी, किंतु उसमें उग्रता नहीं आ सकी, जिससे शृंगार का परिष्कृत रूप साहित्य-जगत् में नहीं दिखाई पड़ा। हाँ, यह अवश्य

हुआ कि तत्कालीन कुत्सित शृंगारिकता से वासना का कुछ परिहार हुआ, और उसमें कुछ विशुद्धता का समावेश हुआ। भारतेंदु-युग का अपूर्ण कार्य द्विवेदी-युग ने अपने हाथ में लिया, और शृंगारिकता का घोर विरोध किया। वह विरोध यहाँ तक पहुँचा कि उन लोगों ने साहित्य से शृंगार को खदेड़ देना चाहा, किंतु प्रेम का बहिष्कार कर साहित्य जीवित नहीं रह सकता। साहित्य से प्रेम को बाहर निकाल देना दुनिया की किसी भी शक्ति के लिये संभव नहीं। वही हुआ भी। द्विवेदी-युग के बाद ही प्रेम के मादक समन्वय से हिंदी-साहित्य समुन्नत हो उठा। छायावाद का प्रेमाधिक्य प्रतिक्रिया का परिणाम है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति का आधार द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता तथा बाह्यार्थ-निरूपक कविता के प्रति भावुकता का प्रतिवर्तन है। अतएव द्विवेदी-युग के सभी विषयों के प्रति छायावाद प्रतिक्रिया लेकर आया। उस युग के पार्थिव सौंदर्य, रूखी-सूखी उपदेशात्मक वाणी और शृंगारिकता के बहिष्कार के विरुद्ध प्रतिक्रिया होने के कारण ही छायावाद में शृंगारिकता का प्राचुर्य है।

दुख के द्वारा हमारे हृदय का अधिक प्रसार होता है। सुख हमें स्वार्थ की संकुचित सीमा में आबद्ध कर देता है, किंतु दुख संपूर्ण जगत् को आत्मीय बना देता है। हम करुणा-पूर्ण दृश्य की किसी प्रकार भी उपेक्षा नहीं कर सकते। किसी विधवा के पुत्र शोक पर हमारी आँखों में स्वतः अश्रु के

बादल घिर आते हैं, किंतु दूसरे का सुख हमें आनंदानुभूति नहीं प्रदान कर सकता। दूसरे के उल्लास, हर्ष और आनंद में उसके कुछ अपने आदमी ही सहयोग देंगे। एक का क्षेत्र विस्तृत है, तो दूसरे का संकुचित। "हमारे असंख्य सुख हमें मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सके, किंतु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाए बिना नहीं गिर सकता। मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है, परंतु दुख सबको बाँटकर।" सुख दो व्यक्तियों के बीच में दीवार-सा खड़ा हो जाता है। दुःख हमें मानवता की सामान्य अनुभूति-भूमि पर से विचलित नहीं होने देता। उसमें ऐसी शक्ति है, जो जगत् के सभी आदमियों को एकता के सुकुमार, किंतु दृढ़ सूत्र में बाँधे रहती है। जब दो-चार व्यक्ति दुःख के फंदे में फँसे रहते हैं, तब वे संगठित होकर दुःख से छुटकारा पाने का प्रयत्न करते हैं। उस समय किसी के मानस में दूसरे की क्षुद्रता तथा अपनी उच्चता का बोध नहीं होता। विश्व-वीणा का प्रथम स्वर वेदना की करुण तथा मृदुल मधुरिमा से ओत-प्रोत था। आदिकवि वाल्मीकि के हृदय में क्रौंच का आर्तनाद सुनकर ही कविता का स्रोत फूट पड़ा था। वेदना का साहचर्य मानव-हृदय को राग-द्वेष से मुक्त कर देता है, और यही राग-द्वेष-हीन हृदय कविता की पवित्र उद्गम भूमि है। छायावादी कवि पंत के शब्दों में—"विश्व का काव्य अश्रु-कण" है। वस्तुतः

वेदना और कविता में कोई अंतर नहीं है, क्योंकि दोनो का काम हृदय को संवेदित करना है। कविता जिसे घुमा-फिरा-कर करने में समर्थ होती है, उसके लिये वेदना का एक अश्रु-कण ही पर्याप्त होता है।

छायावाद को वेदना के आध्यात्मिक सौंदर्य ने बहुत आकृष्ट किया है। इसीलिये उसमें वेदना का आधिक्य परिलक्षित होता है। छायावाद और रहस्यवाद की वेदना एक वस्तु नहीं, दोनो एक दूसरे से भिन्न हैं। एक का प्रादुर्भाव भौतिक या पार्थिव अभावों से होता है, तो दूसरे का आध्यात्मिक व्याकुलता से। छायावाद की वेदना को शोक से नहीं, वियोग-जनित विकलता से प्रेरणा मिली है, जो रति के अंतर्भूत है; किंतु वह बहुत उच्च तथा विशाल है, और उसमें शारीरिक मोह तथा वासना-पूर्ण लालसा का अभाव है। उसमें आध्यात्मिक सुंदरता तथा पुनीत उज्ज्वलता का अधिक मात्रा में समन्वय रहने के कारण रहस्यात्मक वेदना का भ्रम होता है। छाया-वाद वेदना को अक्षय निधि समझकर प्यार करता है। वेदना के आध्यात्मिक महत्त्व को समझनेवाले के सम्मुख चिंता, विषाद और व्याकुलता का प्रश्न ही नहीं उठता। जो वेदना में ही संतोष, सुख और आनंद मानता है, उसके लिये दुनिया में वैसा निरापद् प्रश्रय और कोई नहीं है। वस्तुतः वेदना का राज्य स्वर्ग से भी पवित्र है—

वेदना से भी निरापद् क्या अहा!
और कोई शरण है संसार में?

वेदना से भी अधिक निर्भय तथा
निष्कपट स.मूज्य है क्या स्वर्ग का ?

इसीलिये उसे दुःख की अगाध धारा में डुबकियाँ लगाने में ही आनंद की उपलब्धि होती है—

सुखी रहता दुख ही में डूब ।

—द्विज

करुणा मानव-हृदय की दिव्य विभूति है। वह मानव-हृदय का विस्तार कर विश्व के प्रत्येक प्राणी से, जगत् के अणु-परमाणु से रागात्मक संबंध स्थापित करती है। करुणा-प्लावित संगीत 'स्व' और 'पर' का भेद मिटाने में, अपूर्णता को दूर करने में अत्यधिक प्रयत्नशील रहता है। उसमें हृदय की व्याकुलता रहती है, जो छोटे-से-छोटे प्राणी को स्पर्श कर महान् बना देती है।

वेदना से मुँह मोड़ लेने का उपदेश छायावादी कवि बहुत दिनों से सुनते आ रहे हैं, किंतु वे वैसा करने में विवश हैं, क्योंकि जन्मते ही दुःख उनके साथ आया है, और उन्हें उसने सुख-प्राप्ति में बहुत सहायता पहुँचाई है। शैशव में उन्होंने रोकर ही मा को उपेक्षा को दूर कर पाया है, और यौवन में अनबींधे मोती की वर्षा करके ही अपने जी को हलका किया है। अतएव सहायता के लिये जीवन में सतत तैयार रहने वाले आँसू को आत्मीय समझकर प्यार करना स्वाभाविक ही है—

जन्म से ये साथ हैं, मैंने इन्हीं का प्यार जाना ;
स्वजन ही समझा दृगों के अश्रु को, पानी न माना।

—महादेवी

छायावाद-युग में जीवन का आदर्श ही इस रूप में संगठित हुआ है, जिसमें वेदना के प्रति अत्यधिक ममत्व है। वेदना-हीन जीवन का उसके सम्मुख कोई महत्त्व नहीं। वियोग में जलना ही उसकी दृष्टि में जीवन है—

अविराम विरह में जलना,
जीवन है यही कहाता ;
वह स्नेह-हीन है, जलकर
जो पल-भर में बुझ जाता।

—हरेकृष्ण 'प्रेमी'

संसार के सभी प्रकार के सुखों में अपूर्णता, अशांति, अतृप्ति तथा छलना का आवास रहता है, किंतु वेदना द्वारा प्राप्त होनेवाला सुख सभी की अपेक्षा महान् है। उसमें व्यक्तिगत स्वार्थ तथा मोह का अभाव और हृदय को ऊँचे स्तर पर अधिष्ठित करने की अद्भुत आध्यात्मिक शक्ति रहती है। इसीलिये छायावाद में वेदना की अमरता के प्रति अधिक उत्कंठा प्राप्त होती है—

अमर वेदना ही हो मेरे
सकल सुखों का मीठा सार।

—द्विज

मानव-जीवन में सुख की अपेक्षा दुःख का ही आधिक्य है। दुनिया के लोगों में अधिक दुखियों की ही टोली है। मनुष्य के प्रेम, सौख्य, विलास, उल्लास, हर्ष, हास आदि के अंतर्भूत भी वेदना की क्षीणतम धारा प्रवाहित होती है, जो तीक्ष्ण दृष्टि के सम्मुख प्रत्यक्ष है। इसीलिये छायावादी कवि अपना सुख भिक्षुक जगत् को सौंपकर वेदना-जनित आनंद में ही पुलकित होना चाहता है।

छायावाद में वेदना के अंतःप्रवाह के साथ नैराश्य की अक्षुण्ण धारा भी प्रवाहित होती है। वेदना तथा निराशा के बाहुल्य के मूल में दुःख के आध्यात्मिक सौंदर्य के आकर्षण के अतिरिक्त अन्य तथ्य भी सम्मिलित हैं। इस अनेक रूपात्मक जगत् में व्यक्तियों की प्रकृति का निर्माण विभिन्न भावनाओं के योग से हुआ है। किसी में सत्यम् की अधिकता, किसी में शिवम् की अधिकता और किसी में सुंदरम् की अधिकता पाई जाती है। अतएव मनुष्य अपनी प्रकृति से जगत् का मेल न देखकर निराशा की धारा में अवगाहन करने लगता है। दूसरा कारण जगत् की क्षण-भंगुरता है। फूल खिलता है, और झड़ जाता है, सूर्य उदित होकर छिप जाता है, और मनुष्य जन्म लेकर मृत्यु का ग्रास बन जाता है। जीवन और यौवन की इस अस्थिरता ने भी निराशा की भावना को बहुत उत्तेजित किया है। इसके अतिरिक्त इस प्रवृत्ति के आधिक्य के कारण देशगत, समाजगत तथा व्यक्तिगत समस्याएँ हैं। कवि उनकी उपेक्षा कदापि

नहीं कर सकता। वह सामाजिक प्राणी है। समाज की भावना का उस पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। संप्रति समाज में सुख, आनंद, उल्लास, हर्ष आदि का अभाव तथा दुःख, विषाद, क्लेश, पीड़ा और यातना का बाहुल्य है। हमारा देश पराधीनता की मोटी जंजीर में आबद्ध था। उससे छुटकारा पाने का प्रयत्न उसने कई बार किया, किंतु राजनीतिक परिस्थिति अनुकूल न होने के कारण उसे सदा विफलता-ही-विफलता मिलती रही। हमारी आशा, हमारा उल्लास और हमारी अभिलाषा चूर-चूर हो गई, और हम निराशा के सागर में गोते लगाते रहे। स्वतंत्र होने पर भी हमारे सामने जीवन-निर्वाह की समस्या विकराल रूप धारण कर खड़ी है। वह निमिष-मात्र भी शांति लेने का समय नहीं देती। हृदय में हलचल मची है। ऐसे अशांति-पूर्ण वातावरण में दो-चार बूँद आँसू टपकाने के बाद ही शांति-बोध होता है। इसके साथ ही हमारे सिद्धांतों में भी सामंजस्य का अभाव है। वे इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। धर्म का स्वरूप, समाज और जीवन का आदर्श आदि निश्चित नहीं हो सके हैं। इन महती समस्याओं के हल होने से जीवन में निराशा तथा वेदना की विवृद्धि स्वाभाविक है। कविता जीवन के प्रभाव से निरपेक्ष नहीं रह सकती। अतएव छायावाद किसी प्रकार भी वेदना तथा निराशा से मुक्ति नहीं पा सका

सौंदर्य और साहचर्य प्रेम के स्रष्टा हैं। सौंदर्य अपनी आकर्षण-शक्ति से हमारा हृदय बरबस खींच लेता है, औ

हम उसे पाने, सुरक्षित करने तथा उस पर जान देने के लिये तैयार हो जाते हैं। साहचर्य कुरूपता में सरूपता प्रतिष्ठापित कर हमारे हृदय पर विजय प्राप्त करता है। साहचर्य-जन्य सौंदर्य वस्तुगत सौंदर्य की अपेक्षा बहुत महत्त्व-पूर्ण है। एक में पावनता है, तो दूसरे में लुब्ध होने की वासना, किंतु दोनो की अंतिम परिणति एक ही स्थल पर होती है। सौंदर्य-पूर्ण प्रकृति प्रेम-भावना को सहज में पुष्ट करती है, किंतु प्रकृति के साधारण दृश्य हमारे हृदय को शताब्दियों के साहचर्य-जन्य प्रेम के कारण प्रिय लगते हैं। अपने घर, अपने गाँव, अपने प्रांत तथा अपने देश के प्रति उद्भूत होनेवाले प्रेम का कारण साहचर्य है। मानव को प्रकृति का साहचर्य बहुत दिनों से उपलब्ध है। प्रकृति के प्रांगण में पलने के कारण उसके हृदय में प्राकृतिक वस्तुओं के लिये अधिक ममत्व सुरक्षित है। शरद् की सुधामयी ज्योत्स्ना-चर्चित रजनी में यौवनोन्माद-प्रमत्त सरिता की मधुर संगीत-लहरी श्रवण कर, हरित पत्राच्छादित वृक्षों के सघन कानन में पशु-पक्षियों का क्रिया-कलाप देखकर और विस्तृत सागर के तट पर अरुणिम उषा की मादक मुस्कान अवलोकन कर मानव हृदय तो विमुग्ध होता ही है, किंतु वह कटीली झाड़ियों के नीले-पीले फूलों को, बाँसों के झुरमुट को तथा पतझड़ की रूखी-सूखी पत्तियों को भी अपने स्नेह से वंचित नहीं रख सकता। कृत्रिम वस्तुओं की अपेक्षा प्रकृति के लिये हमारा हृदय अधिक उदार है। पपीहा के हृदय

से निकली 'पी कहाँ' की पुकार की समता दुनिया का कोई वाद्य-यंत्र नहीं कर सकता। वाद्य-यंत्र की मोहक मधुरता की चरम सीमा प्रकृति के संगीत का समारंभ है। सभ्यता के विकास ने प्रकृति से हमारा संबंध छुड़ा दिया है, और उन अभावों को वैज्ञानिक अवदानों से दूर करने का प्रयत्न किया है, किंतु हमारा चिर-पोषित प्रकृति-प्रेम अब भी जीवित है। हम नगर में रहकर भी अवकाश के अभाव में गमले के छोटे-मोटे पौधे से ही अपना अनुरंजन कर लेते हैं। मूल संस्कार के कारण ही प्रकृति हमें आत्मीय-सी प्रतीत होती है। प्रकृति-प्राप्त आनंद की तुलना किसी प्रकार के आनंद से नहीं की जा सकती। वह सभी में श्रेष्ठ है। महादेवी वर्मा ने एक स्थल पर लिखा है—"हममें से प्रायः सभी बचपन में तितलियों के साथ दौड़े हैं, चिड़ियों के साथ गाते रहे हैं, कोई खिला फूल देखकर ऐसे प्रसन्न हुए हैं, मानो वह हमारे हृदय में ही फूला हो, परंतु बड़े होने पर हमरा जीवन ऐसे कृत्रिम बंधनों से जकड़ जाता है कि उस ओर ध्यान देने की न तो इच्छा होती है, न अवकाश मिलता है। वास्तव में प्रकृति में सांत्वना और आनंद देने की अपूर्व शक्ति होती है। तारों से जड़ी चाँदनी रात रोगी को नर्स से अधिक सुख दे सकती है, यदि वह उसकी भाषा समझने में समर्थ हो।" प्राकृतिक सुषमा सतत नवीन रहती है। अतएव उसके अवलोकन में मानव-हृदय कभी विरक्त नहीं होता।

प्रकृति की उपासना हमारे हृदय को विस्तृति प्रदान करती है।

संसार के सभी कवियों के हृदय में प्रकृति के लिये विशिष्ट स्थान था। उन लोगों को काव्य-माला प्रस्तुत करने में प्रकृति से बहुत प्रेरणा मिली थी। हाँ, जिनका लक्ष्य चमत्कार-प्रदर्शित कर लोगों को विस्मय-विमुग्ध करना था, उनके लिये नैसर्गिक सुषमा में किसी प्रकार का आकर्षण नहीं था। वाल्मीकि, कालिदास, वर्ड्सवर्थ, शेली आदि ने अपने काव्य में प्रकृति को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। उन लोगों का हृदय प्रकृति-सौंदर्य पर सतत मुग्ध होता रहा है। अतएव उनके काव्य में प्राकृतिक सौंदर्य एकरस हो गया है। हिंदी की प्राचीन कविता में प्रकृति की रमणीयता के लिये आकुल उत्कंठा तथा अनुपम आकर्षण का अभाव है। तत्कालीन कवियों के हृदय को प्रकृति के मनोरम रूपों पर मुग्ध होने का अवसर नहीं मिला, इसीलिये सर्वत्र प्रकृति का चित्रण आलंबन रूप में नहीं, उद्दीपन रूप में हुआ है। प्रकृति के सर्वांग-पूर्ण चित्र के लिये उसके साथ कवि हृदय का तादात्म्य संबंध स्थापित होना आवश्यक है। तत्कालीन कवियों में कुछ तो राजदरबार में अपनी चमत्कारिता, कुशलता तथा निपुणता दिखलाने में ही व्यस्त थे, कितनों को ईश्वर-भक्ति तथा आत्मचिंतन से ही फ़ुरसत नहीं थी, और कितनों को अपनी उपदेशक-वृत्ति पर ही फ़ख़्र था। प्राचीन कविता में प्रकृति का उपयोग स्वतंत्र रूप

से कहीं नहीं हुआ है। वह जहाँ आई है, वहाँ सहायिका के रूप में—रसों की उद्दीप्ति के लिये। इसके अतिरिक्त दृष्टांत तथा आलंकारिक उक्ति के रूप में प्रकृति का चित्रण हुआ है। जहाँ पूर्ण चित्र के अभाव में हमारा हृदय पूरी तरह नहीं रम पाता, वहाँ सर्वत्र प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता की उपेक्षा की गई है। तत्कालीन कवियों ने मनुष्य की पार्श्वभूमि को भव्यता देने, उसके चरित्र को उज्ज्वलता प्रदान करने तथा उसके मनोभावों को स्पष्टता देने के लिये ही प्रकृति को अपने काव्य में उपस्थित किया है। उसे मनुष्य की चेरी से अधिक महत्त्व नहीं प्रदान किया गया है।

छायावाद के हृदय में प्रकृति के लिये ऐसी अनुदारता का एकदम अभाव है। उसकी दृष्टि में उसका स्वतंत्र अस्तित्व है, और वह व्यक्तित्व-पूर्ण है। वह फल-फूलों के समान उसे उपभोग की वस्तु नहीं समझता। उसकी धारणा के अनुसार प्रकृति का एक निजी जगत् है, जहाँ वह मनुष्य के समान ही सुख-दुःखमय जीवन व्यतीत करती है। उसकी दृष्टि में दूर्वा पर बिखरे ओस कणों का, लोगों के व्यथासिक्त आँसुओं का, उषा की स्वर्णिम अरुणाभ रश्मि का और आनंद-विह्वल व्यक्ति की मदिर मुस्कान का एक ही समान महत्त्व है। वह बिजली की चमक और सरिता की कल-कल-ध्वनि की तुलना मनुष्य के हास और रुदन से करता है। वह वृत्त की विशालता, कमल की कोमलता, चट्टान की

कठोरता और दिन की उज्ज्वलता से मनुष्य की उच्चता, सदयता, निष्ठुरता तथा बुद्धिशीलता का साम्य आरोपित कर ही संतोष नहीं कर लेता, वरन् उन प्राकृतिक विभूतियों को उस असीम सत्ता की चतुर्दिश-विस्तृत शक्तियाँ समझता है। प्रकृति उसके सामने वैसी ही सहृदय तथा व्यक्तित्व-पूर्ण है, जैसा एक मनुष्य। वह दोनों में किसी प्रकार का अंतर नहीं देखता। दोनों में एक समान ही आलंबनत्व देखता है। अपने काव्य में छायावादी कवियों ने उसे भावों को उद्दीप्त करने के लिये ही ग्रहण नहीं किया, बल्कि उसमें आलंबनत्व का आरोप किया है, जिससे उसके साथ हमारे हृदय की एकात्मता स्थापित होती है। प्रकृति की चमक-दमक द्वारा छायावाद कौतूहल-प्रदर्शन करना नहीं चाहता। उसके सौंदर्य के निम्नतर स्तर में डूबकर उसने तल्लीनता प्राप्त की है। छायावाद के आविर्भाव-काल के आस-पास ही कवियों का रुझान प्रकृति की ओर हो गया था, और काव्य में प्रकृति-निरूपण द्वारा रसानुभूति कराने की प्रवृत्ति प्राप्त होती है, किंतु उसका विकास समुचित रूप से नहीं हुआ। 'हरिऔध' जी के महाकाव्य 'प्रिय-प्रवास' में प्रकृति को विशिष्ट स्थान उपलब्ध है, लेकिन उसके चित्रों में संश्लिष्टता का अभाव है। हाँ, 'प्रिय-प्रवास'-काल के कवियों में प्रकृति-प्रेम की विवृद्धि हुई, तथा प्रकृति-चित्र की विस्तृत अलंकृति की प्रवृत्ति जाग्रत् हुई, किंतु छायावाद के लिये तो प्रकृति स्वतंत्र

वह जाता है मलयानिल,
आँसू से भर जाता जब
सूखा अवनी का अंचल।

—महादेवी

छायावाद में प्रकृति का आलंबन-रूप में जहाँ चित्रण हुआ है, उसके दो भेद किए जा सकते हैं। एक वह है, जिसमें कवि ने प्रकृति से निरपेक्ष रहकर उसके स्थूल तत्त्वों की मनोरम तथा अलौकिक मूर्ति खड़ी की है, और दूसरे में उसने प्रकृति के स्थूल तथा आभ्यंतरिक सौंदर्य के साथ अपनी अंतर्वृत्तियों का सामंजस्य स्थापित किया है। छायावाद दूसरी प्रवृत्ति से अधिक प्रभावित है। 'सलिल की लोल हिलोर' का वर्णन करते हुए कवि ने अपनी भावनाओं को सन्निविष्ट कर दिया है—

आ मेरे मृदु अंग झकोर,
नयनों को निज छवि में बोर,
मेरे उर में भर यह रोर!

—पंत

सरिता के साथ कवि आत्मीयता का अनुभव करता है। उसकी अविराम प्रगति देखकर उसके भावुक हृदय में दुःख उत्पन्न होता है। इसीलिये वह सरिता से अनुरोध करता है कि जब तुम्हारे पैर थक जायँ, तब दो क्षण के लिये कुंजों में विश्राम कर लो, और तब आगे बढ़ो। इस प्रकार कवि के हर्ष-

विषाद की परिधि अपने तक ही सीमित नहीं, वरन् उसके अंतर्गत प्राकृतिक वस्तुओं का भी समावेश है—

हो जायँ शिथिल जब चरण चपल,
इन कल कुंजों में ही कोमल।
विरमाती चल, दो क्षण, दो पल,
श्रम सीकर-निकर सुखाती चल।

—आरसी

छायावाद प्रकृति को मानव के दुःख-सुख में रोते हँसते देखता है। पवन को बहते देखकर सोचता है, शून्य जगत् की अचिरता देखकर निःश्वास छोड़ रहा है, और ओस-कण नीलाकाश के आँसू हैं, जिन्हें उसने विश्व की भंगुरता तथा उत्पीडन देखकर बहाया है।

अचिरता देख जगत की आज
शून्य भरता समीर - निःश्वास;
डालता पातों पर चुपचाप
ओस के आँसू नीलाकाश !

—पंत

और दूसरी जगह—

क्यों छलक रहा दुख मेरा
ऊषा के मृदु पलकों में ?
क्यों उलझ रहा दुख मेरा
संध्या की घन अलकों में ?

—प्रसाद

छायावाद में ऐसे प्रकृति-चित्रों का भी आधिक्य है, जिनमें कवि ने अपनी अंतर्वृत्तियों का समीकरण न कर सरल, सुंदर भाषा में प्रकृति का ठेठ चित्र उपस्थित किया है। उन चित्रों में बहुमूल्य रंगीन उपादानों से सुसज्जित चित्रों की अपेक्षा माधुर्य तथा सरसता की कमी नहीं। नीचे की पंक्तियों में पीपल का कितना हृदयहारी तथा संश्लिष्ट चित्र उपस्थित किया गया है—

जितने हैं उसमें कोटर, सब पंछी, गिलहरियों के घर।
संध्या को दिन जाता ढल, सूरज चलते हैं अस्ताचल—
कर में समेट किरणें उज्ज्वल।
सो जाता है सुनसान लोक, चल पड़ते घर को चील, कोक।
भर जाता है कोटर-कोटर, बस जाते हैं पत्तों के घर;
घर-घर में आती नींद उतर।

—नेपाली

छायावाद के प्रकृति-चित्रों का शृंगार बहुमूल्य रंगीन उपकरणों से हुआ है। उनमें सोने की स्वर्णाभा, रजत की उज्ज्वलता, मुक्ता की स्वच्छता और विद्रुम की अरुणिमा का उद्दीप्त प्रकाश है। वहाँ सोने के निर्झर, हीरक की प्रतिमा, रजत के पारावार, कनक की छाया, केशर के वस्त्र, नीलम के मंदिर, स्वर्ण की रेणु और सोने के पराग की कमी नहीं। इस चित्रण-शैली का प्रभाव छायावाद-युग के गद्य पर भी पड़ा है। 'ज्योत्स्ना' में संध्या मूर्तिमती हो उठी है। "मूँगे के फ़र्श पर, धुनी रूई की तरह, ढेर-ढेर, कोमल, सुनहला प्रकाश

बिछा है, जिस पर गेरुए मलमल की धोती पहने, प्रौढ़ आयु संध्या, निष्कंप दीप-शिखा की तरह, दत्तचित्त बैठी है। मृणाल-सी लंबी, पतली, खुली बाँहें, वक्षःस्थल के साँझ के उरोज सुनहली कंचुकी से कसे, दमकते भाल पर दो-एक चिंता की रेखाएँ, भौंहें पतली, कुछ अधिक झुकी हुई, स्निग्ध शरद् आनन, शांत-गंभीर मुद्रा, कपोलों, कंधों एवं पृष्ठ भाग पर रुपहले-सुनहले बाल बिखरे।" मूँगे के फ़र्श, सुनहले प्रकाश, सुनहली कंचुकी और रुपहले-सुनहले बाल के नियोजन से संध्या की सुंदरता आँखों के सम्मुख खिंच जाती है, और हमारा हृदय उस चित्र को बार-बार देखने को ललच उठता है। इस प्रकार के बहुमूल्यता-समन्वित चित्रों का छाया-वाद में आधिक्य है। उसके दिन और संध्या में सुनहला रंग है, रात में मोती की उज्ज्वलता है, और उसके प्रभात में पाटल की लालिमा है। देखिए—

कनक-से दिन, मोती सी रात,
सुनहली साँझ, गुलाबी प्रात।

—महादेवी

और—

सोने के प्रभात की
किरणें सुनहली थीं चूमती
सोने के पुष्प - पत्रों के अधर,

सोने के निर्झर
मिलते थे सरिता से।
—'निराला'

प्रकृति का पर्यवेक्षण सिर्फ़ आँखों द्वारा नहीं हो सकता, जब तक उसमें हृदय का मधुर सहयोग न हो। नेत्र और हृदय का सम्मेलन ही प्रकृति के यथार्थ सौंदर्य का दर्शन करा सकता है। रीति-काल के अथवा हिंदी के अन्य प्राचीन कवियों को प्रकृति-चित्रण में सफलता न मिलने का कारण यही है। उन लोगों ने प्रकृति को केवल बाह्य चक्षुओं से ही देखा। इसके अतिरिक्त इसका दूसरा कारण साहित्य-शास्त्र का वह सिद्धांत है, जिसके अनुसार काव्य में गिनी-गिनाई वस्तुओं का आगमन अनिवार्य था। अतएव वे लोग साहित्य-शास्त्र के परिगणित दृश्यों, व्यापारों और वस्तुओं को उपस्थित कर देते थे, और उनका बिंब-ग्रहण नहीं कराते थे। इस प्रकार साहित्य-शास्त्र की क़ानूनी धारा से वे दोषी नहीं ठहराए जा सकते थे, किंतु सम्यक् रसोद्बोधन के लिये प्रकृति का संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करना आवश्यक है, जो अर्थ-ग्रहण द्वारा नहीं। बिंब ग्रहण द्वारा ही संभव है। हृदय के योग के अभाव में प्रकृति के रमणीय चित्रों का निर्माण नहीं हो सकता।

कुछ प्राचीन कवियों ने प्रकृति-वर्णन के नाम पर सैकड़ों वृक्ष, पक्षी आदि के नाम गिना दिए हैं, कितनों ने आलंकारिक योजना के लिये—चमत्कार-प्रदर्शन के लिये 'अर्जुन' और 'भीम' कोला

पटका है * और कुछ ने दृष्टांत-निरूपण के लिये प्रकृति के विभिन्न रूपों को अपनाया है †। हिंदी में सुंदर प्रकृति-चित्रण के अभाव का कारण तत्कालीन कवियों के मानस में कविता का लक्ष्य मन-बहलाव तथा वैचित्र्य-प्रदर्शन हो जाता है। छायावाद ने प्रकृति का वास्तविक महत्त्व समझा, और उसे उद्दीपन से खींचकर आलंबन के पद पर आसीन किया। प्रकृति के एक-एक प्रत्यय का सूक्ष्म चित्रण करने से, उसके नाना रूपों के साथ हृदय की भावनाओं का आरोप करने से तथा उसकी विभिन्न आकृतियों तथा व्यापारों में प्रवाहित होनेवाली भाव-धाराओं को सम्मुख लाने से छायावादी कविता का सौंदर्य अत्यधिक उद्दीप्त हो उठा है। प्राचीन कवियों की दृष्टि प्रकृति के बाह्य सौंदर्य की ओर विशेष थी, परंतु छायावाद में बाह्य सौंदर्य के साथ अंतःसौंदर्य का संपूर्ण समन्वय हो गया है। इसमें कल्पना के लिये विशेष स्थान है। यों तो पुराने प्रकृति-चित्रों

---

* बेर भयानक-सी अति लगै ;
अर्क-समूह जहाँ जगमगै।
पांडव की प्रतिभा-सम लेखौ ;
अर्जुन-भीम महामति देखौ।
—केशवदास

† बुंद-अघात सहहिं गिरि कैसे ;
खल के वचन संत सह जैसे।
छुद्र नदी भरि चलि उतराई ;
जस थोड़ेहु धन खल बौराई।
—तुलसीदास

में भी कल्पना की ललित क्रीड़ा का दर्शन होता है, किंतु वहाँ कल्पना का लक्ष्य भावोद्‌बोधन नहीं, कौतूहल की सृष्टि है। छायावाद में कल्पना द्वारा मधुर तथा मादक सौंदर्य-प्रतिमा का निर्माण कर रस-तन्मयता की अभिवृद्धि की जाती है। कमनीय कल्पना तथा इंद्रधनुषी तूलिका द्वारा प्राकृतिक चित्रों का रंग बहुत निखर उठा है, और उनमें मर्मस्पर्शिता तथा हृदयहारिता का अधिक समावेश हो गया है। प्राचीन चित्रों की तुलना में इसके रंगों में गाढ़ापन, सुस्पष्टता तथा मोहकता अधिक है, इसकी तूलिका में हलकापन तथा कुशलता है, और इसके आभूषणों में भव्यता तथा बहुमूल्यता। अतएव छायावाद के प्रकृति-चित्रों में कहीं भी मूर्तिमत्ता, सुंदरता तथा रस-तन्मयता का अभाव नहीं। इसमें छोटे-छोटे चित्रों के साथ ही बड़े-बड़े चित्रों का भी प्राचुर्य है, किंतु बड़ी तथा विस्तृत चित्र-सृष्टि की ओर कवियों का झुकाव कम है। बहुत ऐसे भी चित्र हैं, जहाँ कल्पना की कारीगरी के सिवा और कुछ नहीं उपलब्ध होता। बहुत-से चित्रों के साथ दार्शनिकता का समन्वय हो जाने के कारण रसोद्बोधन की क्रिया में व्याघात पहुँचता है। उनमें प्रकृति के रूपों का वर्णन करते-करते अंत में उपदेश तत्त्व का नियोजन कर दिया गया है। वहाँ हमारा हृदय प्रकृति-सौंदर्य में तल्लीन नहीं हो पाता, और हम उपदेशक के कठोर शब्द सुनकर चौंक उठते हैं, किंतु इस प्रकार की प्रवृत्ति का आधिक्य नहीं। छायावाद ने प्रकृति को आलंबनत्व

तथा व्यक्तित्व प्रदान कर भावों की मुखरता, अवयवों की सुरूपता तथा सुघरता और भाव-तन्मयता की अपूर्व क्षमता दी, जिसे देखकर मानव-हृदय आत्मविस्मृत-सा हो जाता है।

कविता कल्पना और अनुभूति का समन्वय है। कविता में अनुभूति के स्पर्श से हृदयस्पर्शिता तथा कल्पना से मोहकता का आविर्भाव होता है। अनुभूति कल्पना से निरपेक्ष रहकर भी मानव-हृदय में भावोद्रेक कर सकती है, किंतु कल्पना अनुभूति का विरोध कर कविता के सौंदर्य को स्थायित्व तथा मार्मिकता नहीं प्रदान कर सकती। जिस कविता में कवि की आत्मानुभूति, उसका आत्मभाव जितना व्यक्त होगा, वह उतनी ही मर्म-स्पर्शिनी बन सकेगी। कला और चमक दमक के अभाव में केवल आत्मानुभूति ही कविता को अपने स्थान से च्युत नहीं होने देती। कोयल का मधुर संगीत उसके हृदय के उच्छ्वास का समीकरण रहने के कारण ही मनुष्य को तन्मय कर देता है। हृदय का सच्चा भाव कविता को रसात्मकता प्रदान करता है। आत्मभाव की अभिव्यंजना का महत्त्व पहले के कवियों ने भी स्वीकार किया है, किंतु हिंदी के कवि अपनी पुनीत अनुभूति को भुलाकर राजा-महाराजाओं की यशः-प्रशस्ति में ही तल्लीन हो गए, और कविता में रास-लीला दिखाने तथा नायिका-भेद गिनाने लगे। लक्ष्य-च्युति के कारण कविता अनुभूति-शून्य हो गई। धीरे-धीरे अनुभूतियों की स्पष्ट अभिव्यक्ति उपेक्षा की दृष्टि से देखी जाने लगी। इस प्रवृत्ति को भारतीय दर्शन के इस

सिद्धांत ने भी अधिक पुष्ट किया, जिसमें 'अहम् तत्त्व' को बुरा समझा गया है। 'अहम् तत्त्व' अंतर में महत्त्व की अनुचित अनुभूति है। अपने भावों की अभिव्यंजना द्वारा मनुष्य को झुकाने का प्रयत्न 'अहम् तत्त्व' है, किंतु हृदय के मनोवेगों और भावों का विशुद्ध व्यक्तीकरण आत्माभिव्यक्ति है। अहंकार-वृत्ति त्याज्य है, परंतु सात्त्विक आत्माभिव्यक्ति ग्राह्य। उसके द्वारा ज्ञान-प्रसार में सहायता मिलती है। अहंकार-वृत्ति को दूर करने के उपदेश का प्रभाव कवि-समाज पर विपरीत होकर पड़ा, वे लोग आत्माभिव्यक्ति से दूर भागने लगे, और कुछ समय बाद इसने रूढ़ि का रूप धारण कर लिया, किंतु उसे भस्मसात् कर छायावाद ने काव्य को मार्मिकता तथा उज्ज्वलता प्रदान की।

कविता जीवन की प्रतिकृति है। उसके प्रत्येक अक्षर में कवि की हृद्गत भावनाओं, विचारों, वासनाओं आदि का समन्वय रहता है। कहीं उनकी अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष रूप में होती है, तो कहीं परोक्ष रूप में। इसी के आधार पर कविता का दो भागों में वर्गीकरण होता है—एक में कवि अपनी आभ्यंतरिक अनुभूति का सहयोग लेकर सूक्ष्म भावों का अभिव्यंजन मधुरतम रूप में करता है, तो दूसरे वर्ग में वह अपने अंतर्जगत् से दूर रहकर भौतिक भावनाओं को आधार-शिला मानकर कविता-प्रणयन के लिये बैठता है। पहली को भावात्मक तथा दूसरी को वर्णनात्मक कविता के नाम से संबोधित

करते हैं। द्विवेदी-काल में वर्णनात्मक कविताओं का प्राचुर्य रहा है। अतएव हम उनमें छायावाद की तरह कवि के मनोभावों का दर्शन नहीं कर पाते। छायावादी कवि अपनी मनोगत भावनाओं की अभिव्यंजना में थोड़ा भी संकोच नहीं करता। वह जीवन में जितना यथार्थ है, कविता में भी उतना ही अभिव्यक्त होना चाहता है, किंतु वर्णनात्मक तथा इतिवृत्तात्मक कविता करनेवाले अपने हृदय के उद्वेगों को निधड़क व्यक्त करने में हिचकते हैं, और उन्हें किसी दूसरी वस्तु की ओट में प्रकट करते हैं। यदि छायावादी कवि अपने प्रियतम की वियोग-जनित वेदना की अभिव्यंजना स्पष्टता से करता है, तो इतिवृत्तकार उसी को राधिका या गोपिका के विरह का आश्रय लेकर और अपनी प्रेमानुभूति को शकुंतला और दुष्यंत के प्रेम को आवरण बनाकर। जिस कविता में हृदय की भावनाओं की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है, उस ओर मानवीय प्रवृत्ति अधिक झुकती ह, और जिसमें कवि के मनोभाव अस्पष्ट रहते हैं, उस ओर कम, क्योंकि एक में पाठक के हृदय और कवि की भावना के बीच में कुछ भी व्यवधान नहीं रहता, किंतु दूसरी में उन दोनो के बीच मोटी-सी दीवार बनी रहती है। अतएव छायावाद का महत्त्व आत्माभिव्यंजन के कारण बहुत बढ़ गया है। इसमें कवि-जीवन के सुख-दुःख, विरह-मिलन, हर्ष-विषाद, लज्जा-असूया, उल्लास-अवसाद और हास-रुदन का दर्शन होता है, और उसके व्यक्तित्व की स्पष्ट

छाप लक्षित होती है। वस्तुतः प्रकृत कवि की कोटि में वही आ सकता है, जिसकी कविता की आधार-शिला "अपनी ही सुख-दुख-इच्छाएँ, अपनी ही छवि का आलोक" है। छायावाद मानसिक तथा अकर्तृत्व तथा निर्लेपता से पूर्णतया अलग है। उसकी मार्मिकता तथा सजीवता का कारण कवि के अंतस्तल की गहराई से निःसृत होनेवाले सच्चे भावों द्वारा उसका शृंगार है। भावों की सचाई कला के अभाव में भी कविता में जान ला देती है।

कवि के प्रियतम ने उसके जीवन में अपने व्यापार से पीड़ा और वेदना की सृष्टि कर दी है, और उसके लिये सुख का दर्शन भी दुर्लभ हो गया है। वह अपने दिल की चोट भूल भी नहीं सका था कि उसका प्रियतम उससे आनंद के गाने का अनुरोध करता है, किंतु वह वेदना-दग्ध हृदय से गाने में असमर्थ है। अगर वह गाए भी, तो उस संगीत की तुलना मुरझाए फूलों की फीकी मुसकान से ही की जायगी, क्योंकि उसमें वेदना की आकुल तड़पन और हृदय की गीली आह के अतिरिक्त कुछ भी न मिलेगा। उसका जीवन ही वेदना में डूब गया है, जहाँ आँसू-ही-आँसू हैं—

मेरी मदिरा मधुवाली
आकर सारी ढुलका दी;
हँसकर पीड़ा से भर दी
छोटी जीवन की प्याली!

मेरी बिखरी वीणा के
एकत्रित कर तारों को,
टूटे सुख के सपने दे
अब कहते हैं गाने को!
यह मुरझाए फूलों का
फीका-सा मुस्काना है,
यह सोती-सी पीड़ा को
सपनों से ठुकराना है!
× × ×
इस मीठी-सी पीड़ा में
डूबा जीवन का प्याला;
लिपटी-सी उतराती है
केवल आँसू की माला!

—महादेवी

कवि के हृदय में मधुमय यौवन की सुखद स्मृतियों ने विह्वलता भर दी है—

"आह रे, वह अधीर यौवन!"

—प्रसाद

कवि-हृदय प्रिय के वियोग में कभी अतीत की याद और कभी भविष्य की कल्पना कर विह्वल हो उठता है। फिर भी उसकी रंगीन आशा का अंत नहीं हुआ है। कुछ देर के लिये वह कर्ममय जीवन में एकदम भूल-सा जाता है, किंतु एका-

एक उसी समय विजली के समान उसकी याद आ जाती और, उसे अधीर कर देती है—

कभी उर में अगणित मृदु भाव
कूजते हैं विहगों-से हाय !
अरुण कलियों-से कोमल घाव
कभी खुल पड़ते हैं असहाय !
इंद्रधनु-सा आशा का सेतु
अनिल में अटका कभी अछोर ;
कभी कुहरे-सी धूमिल, घोर
दीखती भावी चारों ओर !
तड़ित सा सुमुखि ! तुम्हारा ध्यान ,
प्रभा के पलक मार, उर चीर ,
गूढ़ गर्जन कर जब गंभीर
मुझे तब करता अधिक अधीर !
जुगनुओं से उड़ मेरे प्राण
खोजते हैं तब तुम्हें निदान !

—पंत

छायावादी कवि अपना राग-विराग निःसंकोच होकर प्रकट करता है, क्योंकि बद्ध भावुकता की मुक्ति के लिये हृदय के आवेश और स्पंदन की उन्मुक्त अभिव्यक्ति उसका चरम लक्ष्य है। दुराव-छिपाव की प्रवृत्ति से उसे घृणा है। इसी-लिये वह अपने प्रिय से मुक्त-हृदय बनने का आग्रह करता है—

प सकी हृदय की आग कहीं;
प सका प्यार का पागलपन!
१ व्यर्थ लाज की सीमा में
बाँध रही अपना जीवन!

—भगवतीचरण वर्मा

अपने बाल-बच्चों, प्रेयसी-प्रियजनों से मिलने की आशा में संध्या समय-पथिक घर की ओर द्रुत गति से चलते हैं, और चिड़ियाँ अपने घोसलों के शिशुओं को दाना चुगाने के लिये, उनसे भर अंक मिलने के लिये दौड़ी जा रही हैं, किंतु कवि के हृदय में इस मादक तथा विह्वलकारी संध्या के प्रति कुछ भी आकर्षण नहीं, क्योंकि उसकी प्रतीक्षा में विकल होने वाला कोई नहीं। इसीलिये वह निःश्वास छोड़कर व्यथा-पूर्ण स्वर में कह उठता है—

मुझसे मिलने को कौन विकल!
मैं होऊँ किसके हित चंचल!
यह प्रश्न शिथिल करता पद को,
भरती उर में विह्वलता है!

—बच्चन

कवि बहुत दिनों से इस आशा में था कि एक दिन उसका प्रियतम आकर उसे गले से अवश्य लगाएगा, किंतु उसने अपना रूप और यौवन उसी की स्मृति में घुल-घुलकर विनष्ट कर डाला, फिर भी वह निर्दय उसकी सुधि लेने नहीं आया!

वरदान दिया है। आत्मभाव की मुक्त अभिव्यक्ति ने मानव के हृदय और जीवन की दुर्भेद्य रहस्यात्मकता से परिचित कराने का प्रयत्न किया है, और काव्य में स्वाभाविकता तथा रस-तन्मयता की अभिवृद्धि की है।

आत्मा में सत् और असत् को पहचानने की शक्ति वर्तमान है, किंतु कुत्सित वातावरण में वह अपनी शक्ति खो बैठती है। यद्यपि दुनिया कालुष्य-पूर्ण तथा प्रपंचों से ओत-प्रोत है, तथापि वह हमेशा वस्तुओं को सुंदरतम, पवित्रतम रूप में देखने को प्रयत्नशील रहती है। आत्मा की यही आकांक्षा कल्पना की उद्भाविका है। हमारे मस्तिष्क पर जिन रागों का चित्र आलिखित होता है, उसका स्मरण कल्पना है। वह इस नाना रूपात्मक व्यक्त जगत् के रूपों के संवेदनों से उद्भूत छाया है। कल्पना स्मृति-कोष पर अवलंबित है, और वही उसकी समस्त संपत्ति है। एक बार किसी को देख लेने पर हमारे मानस-पट पर उसका पूर्ण चित्र खचित नहीं हो पाता, लेकिन बार-बार के दर्शन से उसका धुँधलापन स्पष्टता में परिवर्तित हो जाता है। हमने संसार में बहुत-सी वस्तुएँ देखी हैं। उनमें से दो-एक को लेकर—जिनकी सत्ता अलग-अलग है, जिनके रूप भिन्न-भिन्न हैं—अपने मानस-पट पर इंद्रिय-बोध तथा स्मृति द्वारा एक तीसरा रूप तैयार करना कल्पना है। कल्पना पूर्व-संचित अनुभवों पर अवलंबित है, और अनुभव बाह्य जगत् की वस्तुओं के आधार पर प्राप्त

होता है। जो वस्तु जगत् में अप्राप्य है, उसकी कल्पना असंभव है। जिसने पर्वतों की श्रेणी नहीं देखी, जिसे उसकी थोड़ी-सी भी जानकारी नहीं, जिसने उसकी चर्चा तक नहीं सुनी, वह उसकी सौंदर्य-पूर्ण आकृति की कल्पना ही नहीं कर सकता। आज मनुष्य के उड़ने की कल्पना असंभव नहीं मालूम होती, क्योंकि वायुयान के आविष्कार ने इस सत्य को प्रत्यक्ष कर दिया है। इस वैज्ञानिक युग के पहले भी मनुष्य के उड़ने की कल्पना पक्षियों की उड़ान को आरोपित करके की जाती थी। वस्तुतः जगत् की रूपात्मक वस्तु और उसका प्रभाव ही कल्पना का आधार है।

कल्पना कविता का श्री-सौंदर्य है। वह शुष्क तत्त्वों को, जो मानव-हृदय के लिये अग्राह्य हैं, मर्मस्पर्शी बना देती है। जगत् के समुज्ज्वल, उदात्त तथा ऊर्जस्वी भावों को रमणीय और पूर्ण बनाना उसका ही काम है। इतिहासकार जगत् की घटनाओं का यथार्थ रूप में उल्लेख करता है, परंतु कवि का कार्य उसके आगे का है। वह जीवन की कथाओं का वर्णन करके ही नहीं रह जाता, वरन् कल्पना की मृदुल तूलिका से ऐसा मादक सौंदर्य उपस्थित करता है, जिससे चिरकाल तक मानव-हृदय प्रभावित होता रहता है। कल्पना और सत्य एक दूसरे के पूरक हैं। एक यथार्थ की रूक्षता को चिकनेपन में परिवर्तित करता है, तो दूसरा विचित्रता की ओर लंबा डग भरने से रोकता है। सौंदर्य-पूर्ण वस्तुओं के हृद्गत प्रभाव की

स्पष्ट व्यंजना ही कवि का लक्ष्य है। वस्तुओं का बाह्य सौंदर्य नहीं, उनका अंतःसौंदर्य, उनकी मनोमुग्धकारिता आदि कविता के विषय हैं। इसीलिये कवि को हम वास्तविक जगत् से काल्पनिक जगत् की ओर दौड़ते देखते हैं, क्योंकि वहाँ प्रियता का प्राचुर्य रहता है। प्रायः अधिकांश लोग अपने वास्तविक जीवन से ऊबकर किसी दूसरे जगत् में विचरण करते हैं, और अन्य लोगों को पूर्णता लेकर (उससे जितनी अधिक पूर्णता दूसरे में पाई जाती है), अपने अभाव को भुलाकर सौंदर्य-पूर्ण नवीन जगत् को कल्पना करते हैं। कीट्स ने एक स्थल पर कहा है—"सुनी हुई स्वर-लहरी मधुर है, किंतु जो नहीं सुनी है, वह और भी मधुर है।" इसीलिये विद्वान् कल्पना को सौंदर्य-सुधा की सरिता कहा करते हैं। उसी कल्पना का कविता में अधिक महत्त्व है, जो सत्य की सीमा के भीतर रहकर ही सौंदर्य को उद्भासित करती है। जब कल्पना कल्पना के लिये हो जाती है, और उसमें यथार्थता का अभाव, सौंदर्य-वर्द्धन की उपेक्षा और चमत्कार-प्रदर्शन की अदम्य आकांक्षा रहती है, तब कविता की मार्मिकता विनष्ट हो जाती है। कल्पना कविता का साध्य नहीं, साधन है। अस्वाभाविक कवि-कल्पना हमारे हृदय को रस की सरिता में तन्मय नहीं कर सकती। तिलस्मी तथा ऐयारी उपन्यास से हमारी कौतूहल-वृत्ति भले ही जाग्रत् हो, लेकिन उससे मानव-हृदय प्रभावित नहीं हो सकता। पाश्चात्त्य देश के कुछ विद्वान्

कल्पना को ही कविता का सर्वस्व मानते हैं, और अन्य तत्त्वों की उपेक्षा करते हैं। भावों के अभाव में कल्पना का प्राधान्य कविता की हार्दिकता की रक्षा नहीं कर सकता। कविता में कल्पना का समावेश उतनी ही मात्रा में आवश्यक है, जितनी से उसकी प्रभविष्णुता का विनाश न हो। कल्पना की निरंकुशता सौंदर्य के लिये घातक सिद्ध होती है। कविता का लक्ष्य रस-प्रतीति है, लेकिन कल्पना रस-व्यंजना की प्रारंभिक अवस्था है। कल्पना-मात्र से रसानुभूति असंभव है। हृदय के भावों के अभाव में सच्ची कविता का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता।

द्विवेदी-कालीन इतिवृत्तात्मक कविता में भावों का अभाव ही था, और कल्पना की भी बहुत कमी थी। छायावाद उसके विरुद्ध अदम्य विद्रोह लेकर आया। उसने शुष्कता से कविता की रक्षा कर भावों की मधुर सरिता में उसे डुबाया, और कल्पना की उन्मुक्त क्रीड़ा के लिये यथेष्ट क्षेत्र प्रस्तुत कर दिया। अब तक अंतस्तल के भाव कारा में अवरुद्ध होकर डरते-डरते साँस ले रहे थे, किंतु छायावाद में उनके प्रबल आवेगों को सुंदर रूप मिला। भावों के साथ ही कल्पना में अधिक तीव्रता आई। कल्पना के प्राचुर्य के कारण ही पुराने ढंग के कवियों को छायावाद जटिल पहेली के समान प्रतीत हुआ, क्योंकि उनका मानस आकाश की रंगीन तितलियों के साथ उन्मुक्त होकर दौड़ने में असमर्थ था, किंतु छायावाद निःसंशय होकर

कल्पना की लंबी-से-लंबी उड़ान भरने लगा। फिर भी उसकी कल्पना का लक्ष्य नूतन सृष्टि-निर्माण द्वारा लोगों के हृदय को चमत्कृत करना नहीं था। इसीलिये छायावादी कविता कमनीय कल्पना का सहयोग पाकर चमक उठी। छायावाद की सुहाग-भरी संध्या सूर्य के पथ को गुलालों से लीपकर शुक्र तारा का पहला दीप जलाती है। उसके अधरों पर मादक मुसकान की क्रीड़ा होती है, और उसकी आँखों से सोने के पराग झरते हैं। कवि ने संध्या के रक्तिम स्वर्णाभ सौंदर्य को नीचे की पंक्तियों में मूर्त कर दिया है—

गुलालों से रवि का पथ लीप,
जला पश्चिम में संध्या दीप,
विहँसती संध्या भरी सुहाग,
दृगों से झरता स्वर्ण-पराग!

—महादेवी

कवि स्वप्न को सौंदर्य का अभिनय वरदान समझता है। वह आँखों के नीलम-से आकाश में इंद्रधनुषी कला के समान प्रत्येक क्षण अपना रंग बदलता रहता है। उसमें पुष्पों का स्वर्ण-पराग और मदिरा की मादकता संचित है। स्वप्न के लिये सौंदर्य-रश्मि के मानस की फेनिल लहरों पर स्वर्णाक्षरों में तारक लोकों की पवित्र गाथा लिखने की कल्पना बड़ी सुंदर है। यह कल्पना की ऐसी उड़ान नहीं है, जहाँ वास्तविकता की उपेक्षा; भावबोध की दुरूहता और कमनीयता का अभाव हो।

यहाँ उद्दीप्त भावुकता के समन्वय से कल्पना मर्मस्पर्शी हो उठी है।

नयन-नीलिमा के लघु नभ में
यह किस सुखमा का संसार
विरल इंद्रधनुषी-बादल सा
बदल रहा है रूप अपार !

अलि ! मृदु पलकों के प्यालों में
किस स्वप्निल मदिरा का राग
इंद्रजाल-सा गूँथ रहा है
किन पुष्पों का स्वर्ण-पराग ?

  

मानस की फेनिल लहरों पर
किस छवि की किरणें अज्ञात
स्वर्ण वर्ण में लिखतीं अविदित
तारक-लोकों की शुचि बात ?

—पंत

हवा के घात-प्रतिघात से तरंगित सरिता के हृदय का जिसने खुली आँखों से दर्शन किया है, उसे यह कल्पना स्वाभाविक तथा प्रिय प्रतीत होगी कि छोटी-बड़ी आवेगमयी लहरियाँ जल की लतिकाएँ तथा मृणाल-हीन फेनिल फूल हैं, जो लज्जावंती के समान अपना ही शरीर स्पर्श कर मुरझा जाती हैं। यह

कल्पना जितनी कोमल है, उतनी ही उपयुक्त भी, इसमें कोई संदेह नहीं कर सकता—

वारि-बेलि-सी फैल अमूल,
छा अपार सरिता के कूल,
विकसा औ' सकुचा नवजात
बिना नाल के फेनिल-फूल,
छुई मुई-सी तुम पश्चात,
छूकर अपना ही मृदु गात,
मुरझा जाती हो अज्ञात!

—पंत

चाँदनी रात में आकाश में उड़नेवाले मेघ ज्योत्स्ना के रजत-पारावार में मृदुल हिम के पुंज-से तैरते हुए प्रतीत होते हैं। कवियों की कल्पना भावबोध तथा सौंदर्य-चित्र-आलेखन के लिये दूर तो जाती ही है, उसके साथ ही वह पृथ्वी, आकाश, समुद्र आदि जैसी विशाल वस्तुओं के लिये छोटी चीजों से भी साम्य स्थापित करती है, किंतु वहाँ भी उसका लक्ष्य भावोद्बोधन ही है। अवनि और अंबर के बीच अधिष्ठित समुद्र के लिये रुपहली सीप में तरल मोती की कल्पना बड़ी मोहक तथा चित्रोपम है—

अवनि - अंबर - की रुपहली सीप में
तरल मोती-सा जलधि जब काँपता,

तैरते घन मृदुल हिम के पुंज-से
ज्योत्स्ना के रजत-पारावार में!

—महादेवी

नाना रूपात्मक जगत् के सौंदर्य द्वारा प्रभावित मानव-हृदय अभिव्यक्ति के लिये सतत प्रयत्नशील रहता है। जिस भाव से मनुष्य प्रभावान्वित होता है, उसे दूसरे के हृदय तक पहुँचाने के लिये कुछ बड़ा बनाना पड़ता है, क्योंकि दो हृदयों के बीच की दूरी के कारण दूसरे के हृदय में यथातथ्य भावानुभूति नहीं हो सकती। अतएव कवि को कमनीय कल्पना की सहायता लेनी पड़ती है। उसके द्वारा कविता में प्रेषणीयता का सन्निवेश तथा मार्मिकता और रसतन्मयता की वृद्धि होती है। कल्पना से असहयोग करके प्रभाव की अविकल अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। वह कवि की अनुभूति की सहयोगिनी के रूप में सदा विद्यमान रहती है। कविता में भावों के समान ही कल्पना का भी बहुत महत्त्व है। वह कविता का एक अनिवार्य अंग है। उसकी कभी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जब कवि की अनुभूति में तीव्रता आती है, तब स्वतः उसकी ओर से कल्पना को प्रेरणा मिलती है। भाव-बोध के लिये कल्पना का ही आश्रय आवश्यक है, क्योंकि उसी के द्वारा कविता में हृदय-स्पर्शिता का आगमन होता है। जिस कविता में रस-विमुग्धता नहीं रहती, जो दूसरे का मर्म-स्पर्श कर उसके सम्मुख काल और सीमा को नहीं भुला देती, उसकी गणना सच्ची कविता में

नहीं हो सकती। भाव-शून्य तथा कल्पना की लंबी उड़ानों से पूर्ण कविता हमारे हृदय को तन्मय नहीं कर सकती। एकमात्र कल्पना की उछल-कूद द्वारा मानव-हृदय की रागात्मिका वृत्ति लीन नहीं हो सकती। उदाहरण-स्वरूप तुलसीदासजी का रूप-वर्णन लिया जा सकता है। सीता के रूप-सौंदर्य का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—"सीता की तुलना इस जगत् की स्त्रियों से नहीं की जा सकती। उनके लिये देव-बालाएँ ही उपयुक्त हैं, किंतु सरस्वती अधिक बोलनेवाली है, पार्वती अर्ध-शरीरवाली है, रति शरीर-हीन, पति के कारण दुःखित है, लक्ष्मी विष और मदिरा की बहन है, अतएव उनमें भी साम्य का पूर्णतः अभाव है। यदि सौंदर्यामृत का समुद्र हो, कच्छप अत्यंत रूपमय हो, शोभा रस्सी बने, शृंगार मंदराचल बने, और कामदेव के कमल-सदृश हाथों के द्वारा समुद्र-मंथन से लक्ष्मी निकले, तो संकोच के साथ उससे सीता की तुलना की जा सकती है।" इस प्रकार की अलौकिक रूप-योजना द्वारा सौंदर्य का अनुभव नहीं हो सकता, केवल विस्मय ही संभव है। सहज इंद्रिय-ग्राह्य रूप-वर्णन ही काव्य के लिये अपेक्षित है। नियंत्रित कल्पना और मार्मिक अनुभूतिवाली कविता द्वारा प्राप्त आनंद में गंभीरता तथा विलक्षण कल्पनावाली कविता द्वारा उपलब्ध आनंदानुभूति में हलकापन रहता है, क्योंकि अनुभूति-प्रेरित कल्पना में हृदय का स्पर्श रहता है, और चमत्कार-पूर्ण कल्पना में

बौद्धिक स्पर्श। काव्य के लिये बुद्धि नहीं, भाव अपेक्षित है।

छायावाद में भी बहुत स्थलों पर विलक्षण कल्पनाओं का प्राधान्य प्राप्त होता है, किंतु उन जगहों में मार्मिकता तथा प्रभविष्णुता का अभाव है। ऐसी कल्पना की लंबी उड़ानों की तुलना रीति-काल की चमत्कारिता तथा कलाबाज़ी से की जा सकती है, क्योंकि उसका लक्ष्य हृदय को प्रभावित करना नहीं, बल्कि निपुणता दिखलाना-मात्र है। नीचे का छाया-वर्णन वैसी ही कविता के अंतर्गत आवेगा—

गूढ़ कल्पना-सी कवियों की,
अज्ञाता के विस्मय-सी,
ऋषियों के गंभीर हृदय-सी,
बच्चों के तुतले भय-सी,

तरुवर की छायानुवाद-सी,
उपमा-सी, भावुकता-सी,
अविदित भावाकुल भाषा-सी,
कटी छँटी नव कविता-सी,

पछतावे की परछाईं-सी
तुम भू पर छाई हो कौन?—
दुर्बलता-सी, अँगड़ाई-सी,
अपराधी-सी भय से मौन

मदिरा की मादकता सी औ'
वृद्धावस्था की स्मृति सी,
दर्शन की अति जटिल ग्रंथि सी,
शैशव की निद्रित स्मिति सी!
—पंत

'तरुवर की छायानुवाद' से छाया का कुछ रूप-विधान होता है, किंतु उपमा, भावुकता, अविदित भावाकुल भाषा, कटी-छँटी नव कविता, पछतावे की परछाईं, दुर्बलता, अँगड़ाई, मदिरा की मादकता, वृद्धावस्था की स्मृति आदि से हमारे हृदय में छाया का कोई भी रूप नियोजित नहीं होता, बल्कि हम असमंजस में ही पड़ जाते हैं, क्योंकि उपर्युक्त विभिन्न अप्रस्तुतों में और छाया में एकदम ही साम्य का अभाव है। उनमें न तो रूप-साम्य है, न धर्म-साम्य और न प्रभाव-साम्य ही। छायावाद ने विलक्षण कल्पना-सृष्टि की यह प्रवृत्ति पाश्चात्त्य साहित्य के कलाकारों से अपनाई है, जहाँ वैचित्र्य-समन्वित व्यक्तिवाद का प्राधान्य है। यद्यपि इस ओर छायावाद विशेष उन्मुख है, किंतु वह अधिकांश स्थलों पर भाव और कल्पना को साथ-साथ ले चलने को प्रयत्नशील है।

छायावाद का प्रादुर्भाव इतिवृत्तात्मकता तथा भौतिकता के विरुद्ध हुआ। अतएव उसमें शुष्कता तथा एकरसता का अभाव और भावुकता का प्राचुर्य स्वाभाविक ही है। भावुकता कविता का प्राण है। किंतु उसकी भी एक सीमा निश्चित है, जिसके आगे विक्षिप्तता है। कवियों को भावुकता तथा वास्त-

विकता के बीच होकर अपने मार्ग का निर्माण करना पड़ता है। अत्यधिक भावुकता काव्य के प्रभाव को हलका बनाती और अत्यधिक वास्तविकता नीरसता की सृष्टि करती है। छायावाद की भावुकता जीवन के चिरंतन राग-द्वेष के ज्ञान की गंभीरता से स्पंदित है। छायावादी कवि मानव-जीवन के दुःख-सुख में अन्य कवियों की तरह व्यथित-पुलकित होते रहे हैं। इसके अतिरिक्त प्रकृति के साथ भी उनके हृदय की आत्मीयता संस्थापित हो गई है। वे फूलों की हँसी-खुशी, पत्थरों का रोना-गाना सुनने में भी समर्थ हैं। प्रकृति का सौंदर्य उनके हृदय में पुलक और उसका क्रिया-कलाप प्राणों में स्पंदन भरता है। इसीलिये कभी वे मधुपकुमारी के मीठे गान सुनने के लिये लालायित रहते हैं, तो कभी विजन-कुमारी विहग-बालिका की ओर ललचाई आँखों से देखते हैं। छायावाद की भावुकता संकीर्ण नहीं, पूर्णतः विस्तृत है, किंतु उसमें विक्षिप्तता तथा सस्तेपन का अभाव है। उसमें सर्वत्र मानसिक समतुल्यता की प्राप्ति होती है। वह जितनी ही तीव्र है, उतनी आवेगमयी भी। उसकी तरलता, तीव्रता तथा सरसता में मानव-हृदय एकदम विमुग्ध हो जाता है। इस मनोमुग्धकारिता के कारण ही छायावाद काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियों में अपना विशिष्ट स्थान बनाए हुए है।

जब कवि के हृदय में भावों की तरंग उठने लगती है, तब वह उसकी अभिव्यंजना के लिये विवश हो जाता है, किंतु

उसकी अभिव्यक्ति में हृदय के सभी भाव व्यक्त नहीं हो पाते, कुछ अव्यक्त ही रह जाते हैं। उन अव्यक्त तथा मूक भावों का काव्य में बहुत महत्त्व है। उन अनभिव्यक्त भावों के अस्तित्व का सर्वथा लोप नहीं हो जाता। उनका परिचय पाठकों को संकेतात्मक रूप से मिल जाता है, जो उनके हृदय में विशेष प्रकार के आनंद की सृष्टि करता है। कवि तथा पाठक, दोनो के लिये कल्पना वांछनीय है। उसके बिना भावों का मूर्त-विधान असंभव है। जब तक भाव कल्पना द्वारा परिचालित नहीं होता, तब तक उसकी अनुभूति नहीं हो सकती। कल्पना दो प्रकार की होती है—विधायक कल्पना तथा ग्राहक कल्पना। विधायक कल्पना द्वारा कविता का विधान किया जाता है, और ग्राहक कल्पना भाव ग्रहण करने में सहायक होती है। एक कल्पना कवि के लिये अपेक्षित है, तो दूसरी पाठक या श्रोता के लिये, किंतु पाठकों का काम केवल ग्राहक कल्पना से ही नहीं चल सकता। उन्हें स्थल-विशेष पर विधायक कल्पना से भी सहायता लेनी पड़ती है। जहाँ कवि कविता में मार्मिकता की ओर संकेत कर छोड़ देता है, भावों का सांगोपांग चित्रण नहीं करता, वहाँ पाठकों को उसकी पूर्ति विधायक कल्पना द्वारा करनी पड़ती है। इससे पाठकों को अपनी भावना के लाभ की उपलब्धि हो जाती है। छायावाद की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि इसमें भावों का चित्रण नग्न रूप में नहीं किया जाता, बल्कि स्थल-स्थल पर उसकी ओर संकेत-भर रहता है, पाठकों

को अपनी कल्पना से आनंदानुभूति प्राप्त करने के लिये कुछ अंश छोड़ दिया जाता है। भावों की यह सांकेतिकता कविता को बहुत प्रभावशाली बना देती है। संकेत-स्थल पर पाठकों को कुछ श्रम करना पड़ता है। इसलिये कविता में वैसे स्थलों की मार्मिकता अत्यधिक बढ़ जाती है, क्योंकि बैठे-बिठाए मिलनेवाली वस्तु की अपेक्षा प्रयत्न-लब्ध वस्तु में विशेष आनंद सन्निहित रहता है। रस-विमुग्धता तथा सजीवता की अभि-वृद्धि के लिये ही छायावाद में भावों की सांकेतिकता को अधिक प्रश्रय मिला है, किंतु उसमें भाव-संकेत के नाम पर पहेली की रचना नहीं हुई है। उसमें भावों की उतनी ही नीरवता है, जितनी से पाठकों को भावानुभूति की प्राप्ति में अधिक मिहनत नहीं करनी पड़ती। विधायक कल्पना की सचेष्टता के अभाव में छायावादी कविता से समुचित भावोद्‌बोधन नहीं हो सकता। इसीलिये अकर्मण्य ग्राहक छायावाद की रसात्मकता में पूरी तरह निमग्न नहीं हो पाते।

छायावाद की अस्पष्टता का प्रारंभ में बहुत विरोध हुआ, जो स्वाभाविक भी था, क्योंकि वह नई विचार-धारा, नवीन कल्पना तथा नूतन शैली लेकर आया था, और उसके अंतर्गत सूक्ष्म भावनाओं का समन्वय था। अतएव वाह्य सौंदर्य पर रीझनेवाले इतिवृत्तात्मक कविता के प्रेमियों के पास उन भावों द्वारा आनंद-ग्रहण की शक्ति का अभाव था, किंतु यह आरोप अब तक भी कुछ-न-कुछ बना हुआ है। छायावाद की

उसकी अभिव्यक्ति में हृदय के सभी भाव व्यक्त नहीं हो पाते, कुछ अव्यक्त ही रह जाते हैं। उन अव्यक्त तथा मूक भावों का काव्य में बहुत महत्त्व है। उन अनभिव्यक्त भावों के अस्तित्व का सर्वथा लोप नहीं हो जाता। उनका परिचय पाठकों को संकेतात्मक रूप से मिल जाता है, जो उनके हृदय में विशेष प्रकार के आनंद की सृष्टि करता है। कवि तथा पाठक, दोनो के लिये कल्पना वांछनीय है। उसके बिना भावों का मूर्त-विधान असंभव है। जब तक भाव कल्पना द्वारा परिचालित नहीं होता, तब तक उसकी अनुभूति नहीं हो सकती। कल्पना दो प्रकार की होती है—विधायक कल्पना तथा ग्राहक कल्पना। विधायक कल्पना द्वारा कविता का विधान किया जाता है, और ग्राहक कल्पना भाव ग्रहण करने में सहायक होती है। एक कल्पना कवि के लिये अपेक्षित है, तो दूसरी पाठक या श्रोता के लिये, किंतु पाठकों का काम केवल ग्राहक कल्पना से ही नहीं चल सकता। उन्हें स्थल-विशेष पर विधायक कल्पना से भी सहायता लेनी पड़ती है। जहाँ कवि कविता में मार्मिकता की ओर संकेत कर छोड़ देता है, भावों का सांगोपांग चित्रण नहीं करता, वहाँ पाठकों को उसकी पूर्ति विधायक कल्पना द्वारा करनी पड़ती है। इससे पाठकों को अपनी भावना के लाभ की उपलब्धि हो जाती है। छायावाद की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि उसमें भावों का चित्रण नग्न रूप में नहीं किया जाता, बल्कि स्थल-स्थल पर उसकी ओर संकेत-भर रहता है, पाठकों

को अपनी कल्पना से आनंदानुभूति प्राप्त करने के लिये कुछ अंश छोड़ दिया जाता है। भावों की यह सांकेतिकता कविता को बहुत प्रभावशाली बना देती है। संकेत-स्थल पर पाठकों को कुछ श्रम करना पड़ता है। इसलिये कविता में वैसे स्थलों की मार्मिकता अत्यधिक बढ़ जाती है, क्योंकि बैठे-बिठाए मिलनेवाली वस्तु की अपेक्षा प्रयत्न-लब्ध वस्तु में विशेष आनंद सन्निहित रहता है। रस-विमुग्धता तथा सजीवता की अभिवृद्धि के लिये ही छायावाद में भावों की सांकेतिकता को अधिक प्रश्रय मिला है, किंतु उसमें भाव-संकेत के नाम पर पहेली की रचना नहीं हुई है। उसमें भावों की उतनी ही नीरवता है, जितनी से पाठकों को भावानुभूति की प्राप्ति में अधिक मिहनत नहीं करनी पड़ती। विधायक कल्पना की सचेष्टता के अभाव में छायावादी कविता से समुचित भावोद्बोधन नहीं हो सकता। इसीलिये अकर्मण्य ग्राहक छायावाद की रसात्मकता में पूरी तरह निमग्न नहीं हो पाते।

छायावाद की अस्पष्टता का प्रारंभ में बहुत विरोध हुआ, जो स्वाभाविक भी था, क्योंकि वह नई विचार-धारा, नवीन कल्पना तथा नूतन शैली लेकर आया था, और उसके अंतर्गत सूक्ष्म भावनाओं का समन्वय था। अतएव बाह्य सौंदर्य पर रीझनेवाले इतिवृत्तात्मक कविता के प्रेमियों के पास उन भावों द्वारा आनंद-ग्रहण की शक्ति का अभाव था, किंतु यह आरोप अब तक भी कुछ-न-कुछ बना हुआ है। छायावाद की

अस्पष्टता के बहुत-से कारण है। उनमें उसकी नवीनता के अतिरिक्त मानव-हृदय की रहस्यात्मकता भी है। सृष्टि के आरंभ से उसे समझने का प्रयत्न किया जा रहा है, लेकिन उसकी जटिलता अब तक भी ज्यों-की-त्यों है मानव-हृदय के समान ही भाव भी हमारे लिये गूढ़ तथा रहस्यमय है। भावों की गहनता तथा सूक्ष्मता के कारण ही कवि उनकी सम्यक् अभिव्यंजना नहीं कर पाता। छायावाद की अस्पष्टता के और भी कारण हैं। कवि जिस परिस्थिति में कविता का निर्माण करता है, उस समय उसकी मनोदशा जैसी रहती है, उसी 'मूड' में आने पर कविता के भाव पूरी तरह हृदय-गम्य हो सकते हैं। चलते-फिरते, उठते-बैठते कविता के सभी भावों को एकबारगी समझ लेना जरा कठिन है। जब तक पाठक उस स्थिति में नहीं आ जाता, जिसके प्रभाव में आकर कवि ने कविता की सृष्टि की है, तब तक उन भावों का स्पष्ट बोध असंभव है। जिस समय सांध्य गगन की सुषमा की सजीवता कवि को आकृष्ट कर लेती है, उस समय उसके हृदय में अनेक तरह की भाव-राशि उठती है, और वह उसे शब्दों में बाँध देता है, किंतु उस क्षण के बाद ही वह उस मनोदशा से दूर हट जाता है। यों तो कवि के जीवन में नित्य संध्या आती है, लेकिन वह उस संध्या-विशेष का मुक़ाबला नहीं कर सकती। वैसा आनंद का वेग प्रतिदिन उसके हृदय में नहीं उठता। कवि हमेशा काव्य-रचना की स्थिति में नहीं रहता, और न ऐसा

संभव ही है। अतएव पाठकों को अपने हृदय में उतनी भावुकता का आरोप करने पर सांध्य गगन की सुषमा की सजीवता तथा कवि-हृदय के भावों की सरस अनुभूति हो सकेगी। नीहारिका-बिंदु के बीच से उषा की अरुणिमा-अनुरंजित, हृदय-हारी सुंदरता के छन-छनकर आने में जितनी आकर्षणकारिता है, उतनी उषा के आवरण-हीन, स्वच्छ प्रकाश-पूर्ण दृश्य में संभव नहीं। छायावाद की अस्पष्टता का एक यह भी कारण है, जिसके द्वारा कविता की मार्मिकता और मधुरता बहुत बढ़ गई है, क्योंकि नग्न सौंदर्य की अपेक्षा लुक-छिपकर झाँकने-वाले सौंदर्य में मादकता, उन्मादकारिता तथा आकर्षण-कारिता अधिक रहती है। नूतन अभिव्यंजना-शैली के कारण भी छायावाद में कुछ दुरूहता आ गई है। कला के वाह्य आडंबर के कारण कविता में जो गहनता आ जाती है, उसका इसमें सर्वथा अभाव है। जान-बूझकर भावों को गंभीर बनाने की प्रवृत्ति इसमें नहीं पाई जाती। इसमें जो थोड़ी-सी अस्पष्टता है, वह स्वाभाविक है, सुंदर और मनोहर है।

छायावाद का कलापक्ष

अभिव्यक्ति की आकांक्षा मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्ति है। मानव अपने विचारों और भावों द्वारा दूसरों को प्रभावित करना चाहता है। हम अपने हर्ष और आनंद को, दुःख और विषाद को अभिव्यंजित कर विश्व की अनुकंपा के लिये लालायित रहते हैं। मानवात्मा की दूसरे की आत्मा में व्याप्त होने की यह आकुल भावना चिर-पुरातन है। मनुष्य की सौंदर्य प्रियता अभिव्यंजना-शैली में रोचकता तथा प्रभावोत्पादकता का समन्वय करती है, जिससे इतर व्यक्ति पर अभीष्ट प्रभाव पड़ता है। दूसरे पर प्रभाव डालने के लिये भावों को सुश्रृंखलित तथा सौंदर्यान्वित करने की यही प्रवृत्ति कलापक्ष के मूल में निहित है। साधारण अभिव्यंजना का उद्देश्य अर्थ-बोध-मात्र होता है, किंतु काव्य में अभिव्यंजना भाव-बोध के निमित्त की जाती है। अतएव अरूप मानस-जगत् को रूप देने के लिये कलाकार अधिक सजग तथा प्रयत्नशील रहता है, और उसे अलंकार, रूपक, छंद, संगीत और चित्र की योजना करनी पड़ती है।

छायावाद द्विवेदी-युग के वस्तु-विधान और काव्य-शैली के विरुद्ध प्रतिवर्तन लेकर आया। उसकी वस्तु-भूमि तथा काव्य शैली का बहुत प्रसार तथा विकास हुआ। उसमें नवीन

भावों की अतुल राशि तथा कमनीय कल्पना की मनोहर उड़ान का अवस्थान है। उसकी अभिव्यंजन शैलियाँ पहले से बहुत भिन्न हैं। उसने केवल भाव-भूमि में ही नहीं, बल्कि कविता के कलापक्ष में भी क्रांति को जन्म देकर उसे नूतन तथा सुंदर रूप में उपस्थित किया है। उसकी काव्य-शैली का इतना महत्त्व है कि अन्य प्रकार की कविताओं में भी उसका आश्रय लिया गया है। भावों की व्यंजना की नूतन शैली देखकर लोगों ने कहना आरंभ किया कि छायावाद में भावों की उपेक्षा तथा रचना-नैपुण्य की प्रचुरता है। छायावाद पर क्रोसे के अभिव्यंजना-वाद के प्रभाव के कारण यह दोष आरोपित किया गया है। यह आरोप सर्वथा निराधार है, क्योंकि अभिव्यंजना-वाद में अभिव्यक्ति पर अधिक ध्यान दिया जाता है, किंतु भावों की, वस्तु की उपेक्षा नहीं की जाती। काव्य-भूमि की अवहेलना अभिव्यंजना-वाद का लक्ष्य नहीं है। उसमें अनुभूति, प्रभाव तथा वाग्वैचित्र्य, तीनों का समन्वय रहता है, लेकिन भारतीय साहित्यानुभूति की व्यापकता का अभाव है। साहित्य में ऐसी कृतियों का भी महत्त्व है, जिनमें केवल रचना-नैपुण्य ही रहता है,* किंतु रचना-शक्ति की निपुणता ही सब कुछ नहीं

---

*भाव, विषय और तत्व साधारण मनुष्यों के होते हैं। उन्हें यदि एक मनुष्य बाहर नहीं करता, तो काल-क्रम से दूसरा करेगा, किंतु रचना लेखक की संपूर्ण रूप से अपनी होती है।......रचना के अंदर ही लेखक यथार्थ रूप से जीवित रहता है, भावों और विषय के अंदर नहीं।

साहित्य (हिंदी)—श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर; पृष्ठ-संख्या १२

है, क्योंकि उसकी सार्थकता तो वस्तु-विधान में है। काव्य-वस्तु से अलग रचना-कौशल का कोई महत्त्व नहीं। भाव-बोध उसका लक्ष्य है, और अभिव्यक्ति-कला उसकी सहायिका। कला से पूर्णतः आवृत, किंतु भाव-शून्य कविता कविता नहीं कहला सकती। अंतर्लोक के भावों में लोगों को विमुग्धता तथा तन्मयता प्रदान करना ही सच्ची कविता का ध्येय है। वह कला-प्रदर्शन तथा वाग्वैचित्र्य के फेर में पड़कर अपने प्रभाव की रक्षा नहीं कर सकती। वस्तुतः भाव तथा कला के समन्वय से ही उत्तम कविता की सृष्टि हो सकती है।

कविता का उद्देश्य वस्तु-बोध कराना है। अलंकार कविता का साधन है। "भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होनेवाली युक्ति ही अलंकार है।" किंतु, जब अलंकारों को साध्य बनाकर अपनाया जाता है, और काव्य-वस्तु की उपेक्षा की जाती है, तब कविता अपना महत्त्व रख सकने में ही समर्थ नहीं हो सकती। कुछ समय तक हिंदी-साहित्य में अलंकारों की पुष्टि के लिये ही कविता का निर्माण होता था। कविता हृदय का उद्गार है। उसमें किसी मुख्य उद्देश्य का समावेश करने से उसका स्वाभाविक सौंदर्य विलुप्त हो जाता है। वैसी कविता भावोद्रेक करने में समर्थ नहीं हो सकती। हाँ, उससे कवियों की निपुणता अवश्य प्रदर्शित होती है। काव्य-वस्तु की उपेक्षा कर केवल अलंकारों की चमत्कारिता

दिखाने में कविता की सार्थकता नहीं है। कविता में वस्तु का महत्त्व है। उसकी उपेक्षा उत्कृष्ट कविता के निर्माण में घातक सिद्ध होती है। सुंदर भावों की अवस्थिति में ही अलंकारों द्वारा कविता का सौंदर्य बढ़ाया जा सकता है। अलंकारों की बहुलता भावों के अभाव की पूर्ति नहीं कर सकती। अलंकार का महत्त्व तो भावों का उत्कर्ष बढ़ाने में है। भाव कविता का प्राण है। छायावाद में अभिनव तथा सौष्ठव-पूर्ण भावों का समावेश है। नूतन तथा सुंदर अलंकारों के साहचर्य से कविता की मार्मिकता बहुत बढ़ गई है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की योजना बार-बार हुई है। प्रतिवस्तूपमा, हेतूत्प्रेक्षा, समासोक्ति, विरोध, श्लेष, एकावली आदि अलंकारों का भी प्रयोग बहुत स्थलों पर हुआ है। तथ्य की व्यंजना के लिये दृष्टांत, अर्थांतरन्यास आदि की अपेक्षा अन्योक्ति-पद्धति का ही आश्रय लिया गया है। छायावाद में जितने नए और पुराने अलंकार व्यवहृत हुए हैं, उनका उद्देश्य भावों की तीव्र अनुभूति कराना है। कहीं-कहीं वस्तु-विन्यास की ओर से कवि का ध्यान हटकर दूसरी ओर चला गया है, किंतु ऐसी बात बहुत ही कम स्थलों पर पाई जाती है। अलंकारों के बोझ से भाषा की प्रांजलता का कहीं विनाश नहीं हुआ है।

अधिकांश अलंकारों का आधार साम्य है—शब्द-साम्य, रूप-साम्य, धर्म-साम्य और प्रभाव-साम्य। धर्म-साम्य और

रूप-साम्य के लिये वस्तु के प्रत्येक धर्म की तथा आकार-प्रकार की पूरी समानता आवश्यक नहीं है। आंशिक साम्य द्वारा ही अच्छी तरह काम चल जाता है। अलंकार का उद्देश्य, जैसा पहले कहा जा चुका है, भावों में तीव्रता लाना है। यदि अलंकारों द्वारा भावों के उत्कर्ष में अभिवृद्धि न हुई, तो उसका उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। कविता का लक्ष्य वस्तु-बोध के साथ भावोद्रेक कराना है। रूप-साम्य और धर्म-साम्य रहने पर भी यदि अलंकारों में प्रभाव का अभाव रहे, तो उनका कुछ भी महत्त्व नहीं। सच्ची कविता का गुण हृदय को स्पर्श करना है। अतएव रूप-सादृश्य तथा धर्म-सादृश्य की अपेक्षा प्रभाव-साम्य की ही अधिक महत्ता है।

छायावाद में शब्द-साम्य को आधार मानकर चमत्कार-प्रदर्शन की ओर प्रवृत्ति नहीं पाई जाती। यों तो यमक, श्लेष, अनुप्रास आदि की प्राप्ति होती है, लेकिन प्राचीन कवियों की तरह कलाबाज़ी दिखाने के उद्देश्य से उनका प्रयोग नहीं हुआ है। छायावाद का अलंकार-नियोजन श्रम-साध्य नहीं, स्वतः-प्रसूत है, और उसमें हमारी अंतर्वृत्तियों का पूरी तरह उद्रेक होता है। जिस आलंकारिक योजना में हृदय से अधिक मस्तिष्क का प्रभाव रहता है, भावों द्वारा परिचालित अंतर्वृत्ति के अनुरूप नियोजन नहीं रहता, वह काव्योपयुक्त नहीं हो सकती। इस बात की ओर छायावाद के कवियों का विशेष ध्यान रहा है। यही कारण है, प्राचीन कविता के अलं-

कारों में जितनी कृत्रिमता है, छायावाद में उतनी ही स्वाभाविकता।

छायावाद में बहुत स्थलों पर प्रस्तुत की उपेक्षा कर अप्रस्तुतों की लंबी शृंखला द्वारा चमत्कार प्रदर्शित किया गया है। उसमें जीवन की मार्मिक अनुभूति का प्रभाव तथा कल्पना की लंबी उड़ान दिखाई पड़ती है। प्रस्तुत के आधार पर की गई अप्रस्तुत-योजना काव्य की मार्मिकता बढ़ा देती है। जब प्रस्तुत की अवहेलना कर एक अप्रस्तुत के बाद दूसरा लादा जाने लगता है, तब कविता पहेली-सी जान पड़ने लगती है। उदाहरण-स्वरूप—

कौन, कौन तुम परिहृत - वसना,
म्लान - मना, भू - पतिता - सी,
वात - हता, विच्छिन्न लता - सी,
रति - श्रांता व्रज - वनिता - सी ?

नियति - वंचिता, आश्रय - रहिता,
जर्जरिता, पद - दलिता - सी,
धूल - धूसरित, मुक्त - कुंतला,
किसके चरणों की दासी ?

कहो, कौन हो दमयंती - सी
तुम तरु के नीचे सोई ?
हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या
अलि ! नल-सा निष्ठुर कोई ?

यहाँ तक प्रस्तुत छाया का कुछ-कुछ आभास मालूम होता है, किंतु इसके आगे कवि ने प्रस्तुत की उपेक्षा कर कल्पना की लंबी उड़ान को कविता में स्थान दिया है। इन अप्रस्तुतों को ला-लाकर उपस्थित करने से वस्तु-बोध—जो कविता का लक्ष्य है—कुछ भी नहीं हो सका है। हाँ, चमत्कार-प्रदर्शन में सफलता अवश्य मिली है—

गूढ़ कल्पना - सी कवियों की,
अज्ञाता के विस्मय - सी,
ऋषियों के गंभीर हृदय - सी,
बच्चों के तुतले भय - सी,
भू-पलकों पर स्वप्न - जाल - सी,
स्थल - सी, पर चंचल जल-सी,
मौन अश्रुओं के अंचल - सी,
गहन गर्त में समतल - सी!

  

चिर अतीत की विस्मृत स्मृति - सी,
नीरवता की - सी झंकार,
आँख - मिचौनी - सी असीम की,
निर्जनता की - सी उद्गार!

—पंत

कल्पना, विस्मय, गंभीर हृदय, बच्चों के भय, विस्मृत स्मृति आदि से प्रस्तुत की आकृति प्रकृति और रूप-रंग का बोध नहीं

होता। अप्रस्तुतों में भावोद्दीप्ति की शक्ति के अभाव के कारण कृत्रिमता मालूम पड़ती है। आंतर प्रभाव-साम्य के आधार पर लाक्षणिक और व्यंजनात्मक पद्धति द्वारा अप्रस्तुतों की योजना से काव्य की मार्मिकता बढ़ जाती है, किंतु उसका इस स्थल पर अभाव है। इसी प्रकार हृदय के कोमल भाव के लिये लहर का (उठ-उठ री लघु, लोल लहर!—प्रसाद) प्रयोग भी है, लेकिन इसमें यह सूक्ष्म साम्य है कि सरिता की लहर के समान ही हृदय के भाव भी आपस में टकराते हुए उठते-गिरते हैं।

छायावाद के अप्रस्तुत कुछ पुराने हैं और कुछ नए। सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, इंद्र-धनुष, उषा, प्रभात, सुमन, बिजली, मछली, लहर, ज्योत्स्ना, हिमजल, पुरइन, आँसू, लज्जावंती, अमरबेल, किरण, शिरीष, मुक्ता, तिमिर, अंजन, सुरभि, समीर आदि प्रचलित अप्रस्तुत तो आए ही हैं, और कल्पना, मादकता, मूर्च्छना, स्मृति, विस्मृति सुकुमारता, कसक, चाह, आकांक्षा, लालसा, लज्जा, स्पृहा आदि-जैसे सूक्ष्म और नवीन अप्रस्तुत भी अपनाए गए हैं। नीचे के अवतरण में 'जल-कण' के लिये बहुत-से सूक्ष्म अप्रस्तुतों का प्रयोग किया गया है। 'जलद-शिशु' से जल-कण का जितना रूप-विधान तथा भाव-बोध होता है, उतना सुकुमारता, चाह, सुधि, सगुण, गान आदि से नहीं। किंतु ऐसे स्थलों की कमी नहीं, जहाँ सूक्ष्म तथा अंतर्वृत्यात्मक अप्रस्तुतों की योजना ने कविता का वैभव बढ़ा दिया है—

जब, अचानक, अनिल की छवि में पला
एक जल-कण जलद-शिशु-सा पलक पर
आ पड़ा सुकुमारता-सा, गान-सा,
चाह-सा, सुधि-सा, सगुन-सा, स्वप्न-सा।

—पंत

कवि के जीवन में उसके प्रियतम ने आकर मादकता की सृष्टि की, वह अपने को भूल गया, किंतु उसके जाते ही उसका वेसुधपन दूर हो गया, और उसे अपनी वास्तविक स्थिति का वोध हुआ। इस प्रकार मूर्त के लिये अमूर्त अप्रस्तुत की योजना से स्थिति का सुंदर चित्र खचित हुआ है, और कविता की सुंदरता बढ़ गई है—

मादकता - से आए वे,
संज्ञा - से चले गए थे।

—प्रसाद

नीचे की पंक्तियों में पर्वत के पेड़ों के लिये—जो मूर्त पदार्थ हैं—हृदय की ऊँची आकांक्षाओं का साम्य आरोपित किया गया है—

गिरिवर के उर से उठ कर
उच्चाकांक्षाओं - से तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर!

—पंत

प्राचीन काल के कवियों ने 'मंदिर की पूजा' "दीप-शिखा" "क्रूर काल-तांडव की स्मृति-रेखा' आदि के सदृश उपमानों का प्रयोग नहीं किया है। वे केवल प्राचीनता का ढोल पीटना जानते थे। शास्त्र के गिने-गिनाए अप्रस्तुत के अतिरिक्त अप्रस्तुतों को उन लोगों ने काव्य में स्थान देना वर्जित समझ लिया था, किंतु छायावाद ने अच्छे-अच्छे अभिनव अप्रस्तुतों का व्यवहार धड़ल्ले के साथ किया है। 'दीप-शिखा' में जितनी सहनशीलता तथा शांति की भावना, 'पूजा' में जितनी नम्रता, 'तांडव की स्मृति-रेखा' में जितनी भयंकरता तथा 'छुटी लता' में जितनी असहाय की कारुणिकता है, उतनी अन्य अप्रस्तुतों में संभव नहीं। भारत की विधवा का इससे बढ़कर करुणा-पूर्ण चित्र और क्या हो सकता है—

वह इष्टदेव के मंदिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शांत भाव में लीन,
वह क्रूर काल-तांडव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की विधवा है !

—'निराला'

गंभीर नीरवता के बाद ही झंझा की विकराल और भयंकर लीला प्रारंभ होती है, जो प्रलय के दृश्य से कम नहीं होती। कवि ने स्तब्ध साधों के लिये उसी नीरवता से तुलना की है—

झंझा की पहली नीरवता-
सी नीरव मेरी साधें
भर देंगी उन्माद प्रलय का
मानस की लघु कंपन में!

—महादेवी

छायावाद ने पुराने उपमानों को कला के मधुर स्पर्श से सुंदर बना दिया है। सुंदरता जहाँ दिखाई पड़ी—प्राचीन में अथवा नवीन में, उसे अपना लिया गया है। प्राचीन उपमानों की योजना इस नूतन ढंग से होती है, जिससे उनकी व्यंजकता बहुत बढ़ जाती है। नासिका के लिये शुक का, मुख के लिये चन्द्र का, वेणी के लिये सर्प का, नेत्र के लिये कमल तथा मछली का प्रयोग बहुत दिनों से होता आ रहा है, किंतु छायावाद की कमनीय कल्पना के सहयोग से उनकी चमक बढ़ गई है—

(१) विद्रुम-सीपी-संपुट में
मोती के दाने कैसे?
है हंस न शुक, यह फिर क्यों
चुगने को मुक्ता ऐसे?

(२) बाँधा है विधु को किसने
इन काली ज़ंजीरों में?
मणिवाले फणियों का मुख
क्यों भरा हुआ हीरों से?

—प्रसाद

और—

(३) मद भरे ये नलिन-नयन मलीन हैं ;
अल्प जल में या विकल लघु मीन हैं ?
—'निराला'

छोटे-छोटे बादल-खंड के लिये मेमनों को उपमान के रूप में रखने से बादल के इधर-उधर उड़ने का चित्र आँखों के सम्मुख खिंच जाता है। कवि की अंतर्दृष्टि ने कविता में अत्यधिक रोचकता ला दी है—

मेमनों - से मेघों के बाल
कुदकते थे प्रमुदित गिरि पर !
—पंत

गाँवों की नई वधू लज्जा के कारण अपना मुख घूँघट में छिपाए रहती है। बादल के अवगुंठन से लुक-छिपकर झाँकती हुई उषा के लिये 'नव ग्राम-वधू' को उपस्थित करना बहुत उत्तम बन पड़ा है। इस उपमान में समानता है, सुंदरता है, स्वाभाविकता और चित्रमयता है—

नव ग्राम वधू सी उषा डाल
आई सलज्ज - श्री अवगुंठन।
—आरसी

छायावाद की अप्रस्तुत-योजना की अच्छाई का कारण आधुनिक कवियों का खुली आँखों से प्रकृति का निरीक्षण है। वे दूसरे पर निर्भर नहीं रहते। स्वतंत्र निरीक्षण के कारण

ही उनके अप्रस्तुतों में स्वाभाविकता तथा सुंदरता का सन्निवेश है।

अप्रस्तुतों का व्यवहार साम्य के आधार पर होता है। प्राचीन कवियों का ध्यान रूप-साम्य और धर्म-साम्य की ओर ही अधिक था। छायावाद में इन दोनो की अपेक्षा प्रभाव-साम्य पर विशेष ध्यान दिया जाता है। नायिका और सिंह की कमर में रूप-साम्य है, किंतु सिंह की कमर में नायिका की पतली कमर के प्रभाव का अभाव है। एक हमारी रति को उत्तेजित करती है, तो दूसरी भय का संचार। प्रभाव-साम्य के आधार पर जो अप्रस्तुत-योजना की जाती है, उसका काव्य में बहुत महत्त्व है। इसीलिये छायावाद में प्रायः सादृश्य और साधर्म्य की उपेक्षा कर एकमात्र प्रभाव-साम्य को ही लेकर अप्रस्तुत-योजना की गई है। इस प्रकार की अप्रस्तुत-योजना में अप्रस्तुतों का व्यवहार प्रतीक के रूप में हुआ है—जैसे विषाद के लिये पतझड़, अश्रु, अँधेरी रात, संध्या; आनंद के लिये मधुमास, प्रभात, हास; शुभ्रता के लिये मोती, रजत, कुंद; प्रेमिका के लिये कलिका, सुमन; प्रेमी के लिये मधुप; मानसिक आकुलता के लिये झंझा, तूफ़ान; नम्रता के लिये प्रार्थना; कुटिल व्यक्ति के लिये काँटा; भावों के लिये झंकार, लहर आदि। इन अप्रस्तुतों में प्रस्तुतों के समान ही सुंदरता, कोमलता, भीषणता आदि विशेषताएँ पाई जाती हैं। आकृति-प्रकृति, रूप-रंग आदि देखकर उनका प्रयोग नहीं हुआ

उनसे उत्पन्न होनेवाले भावों का ध्यान रक्खा गया वाद की अप्रस्तुत-योजना में नाप-जोख की प्रवृत्ति का । चंद्रिका द्वारा हमारे हृदय में आनंद का संचार और अंधकार द्वारा विषाद का। अतएव इस प्रभाव ाता के आधार पर सुख-दुःख के लिये 'चंद्रिका' और क्रमशः दोनो उपमान के रूप में व्यवहृत हुए हैं—

लिपटे सोते थे मन में
सुख-दुख दोनो ही ऐसे—
चंद्रिका - अँधेरी मिलतीं
मालती-कुंज में जैसे ।

—प्रसाद

नायिका के हास्य की सुंदरता का बोध केवल अप्र-ना के सहारे कराया गया है। इसमें प्रस्तुत की ाभिव्यंजना के लिये उपमान नहीं लाया गया। फिर में अत्यधिक सजीवता है—

विकसित सरसिज-वन-वैभव
मधु ऊषा के अंचल में,
उपहास करावे अपना
जो हँसी देख ले पल में ।

—प्रसाद

के गोचर-विधान के लिये छायावाद में चित्रमय

रो-रोकर, सिसक सिसककर
कहता मैं करुण कहानी,
तुम सुमन नोचते सुनते,
करते जानी - अनजानी।

—प्रसाद

छायावाद में प्रतीकों को अधिक अपनाया गया है। प्रतीक में भावों को जगाने की क्षमता वर्तमान रहने के कारण कविता की मार्मिकता बढ़ जाती है। जिस वस्तु के प्रति हमारे हृदय में उसकी विशेषता देखकर कोई निश्चित धारणा बन जाती है, उस शब्द का प्रयोग कविता में प्रतीकवत् होता है। सभी देश के प्रतीक एक प्रकार के नहीं होते। इसका कारण देश की भिन्न-भिन्न परिस्थिति तथा संस्कृति है। जिस वस्तु को देखने से भारतीय के हृदय में आनंद-संचार होता है, उसके अवलोकन से फ़ारस के रहनेवाले खुश नहीं हो सकते। छायावाद में जिन प्रतीकों का व्यवहार हुआ है, उनमें देशगत विशेषताओं का अभाव नहीं है, और उनकी सार्वभौमिकता की ओर भी ध्यान रक्खा गया है। छायावाद में प्रतीक-ग्रहण की प्रवृत्ति बहुत अधिक है, किंतु प्रतीक के परिमित संख्या में रहने के कारण प्रकृति के क्षेत्रों से नवीन-नवीन प्रतीकों का संचय किया गया है। अतएव भाव-ग्रहण में कुछ कठिनाई का बोध होता है, किंतु इस अवस्था की अवस्थिति उनके बार-बार के प्रयोग से बहुत दिनों तक नहीं रहेगी। जहाँ लक्षणा के सहारे प्रतीकों

का व्यवहार हुआ है, वहाँ दुरूहता आना स्वाभाविक ही है। नीचे की पंक्तियों में गंभीर क्षोभ के लिये झंझा-झकोर तथा हर्ष के लिये नीरद-माला का प्रयोग हुआ है। ये प्रतीक देशगत हैं। भारत में ग्रीष्म के झंझा-झकोर से प्रसन्नता के बदले विषाद उत्पन्न होता है, लेकिन योरप में शीत की प्रधानता होने के कारण ग्रीष्म का आगमन हर्ष का सूचक है। उसी प्रकार नीरद-माला भारत के लिये आनंद की वस्तु है, तो योरप के लिये विषाद की। देशगत प्रतीकों का स्वागत होना ठीक है, परंतु व्यक्तिगत प्रतीक काव्य के लिये सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध होते हैं। यदि किसी को जेठ की चिलचिलाती धूप से आनंद-बोध हो, तो वह काव्य में प्रतीक की विशेषताओं को नहीं पा सकती। अधिक-से-अधिक लोगों की भावना को उच्छ्वसित करनेवाली वस्तु ही प्रतीक के उपयुक्त होकर काव्य की सुषमा बढ़ा सकती है—

झंझा-झकोर, गर्जन था,
बिजली थी, नीरद-माला;
पाकर इस शून्य हृदय को
सबने आ डेरा डाला।

—प्रसाद

एक दूसरा उदाहरण—

विश्व-मंच पर हास-अश्रु का
अभिनय दिखला बारंबार।

—पंत

हास और अश्रु का प्रयोग सुख-दुःख के लिये हुआ है। हास और अश्रु सभी देश में आनंद और विषाद के सूचक माने जाते हैं। इन दोनो प्रतीकों में सार्वभौमिकता के साथ स्पष्टता भी वर्तमान है।

वह, जिसको पतझर थी वसंत,
क्या वेरा पाहुन है समाधि ?
--महादेवी

यहाँ 'पतझर' और 'वसंत' दुःख और सुख के बदले आए हैं। इनमें वास्तविक भावोद्बोधन की क्षमता पाई जाती है, क्योंकि 'पतझर' में विषाद का घनत्व है, और वसंत में आनंद का समन्वय।

रजत-रश्मियों की छाया में
धूमिल घन-सा वह आता।
—महादेवी

जब असमय में बादल आकाश में इधर-उधर उड़ने लगता है, तब हमारे हृदय में आह्लाद के बदले विषाद उत्पन्न होता है। चंद्रमा की रजत-रश्मियाँ बादल से ढँक जाने पर हम दुःखित हो उठते हैं। प्रकाश सुख का उद्बोधक है, और अंधकार दुःख का। इसी आधार पर सुख के लिये 'रजत-रश्मियों की छाया' व्यवहृत हुई है। 'धूमिल घन' दुःख के उपमान के सदृश प्रयुक्त हुआ है। नवीन प्रतीक होने के कारण उससे विशिष्ट भाव जाग्रत् नहीं होता, यद्यपि वह प्रतीक की सभी विशेषताओं से पूर्ण है।

उषा का था उर में आवास,
मुकुल का मुख में मृदुल विकास,
चाँदनी का स्वभाव में भास,
विचारों में बच्चों के साँस।

—पंत

इसमें लाक्षणिकता की सहायता से प्रतीकों का निर्माण हुआ है। हृदय के उल्लास के लिये 'उषा का आवास,' सुकुमार तथा मधुर वाणी के लिये 'मुकुल का मृदुल विकास,' स्निग्ध तथा आनंदवर्द्धक स्वभाव के लिये 'चाँदनी का भास' और भोलापन तथा सरलता के लिये 'बच्चों के साँस' का प्रयोग कर कवि ने कविता की उत्कृष्टता बढ़ा दी है।

दृगों में सोते हैं अज्ञात—
निदाघों के दिन, पावस-रात,
सुधा का मधु, हाला का राग,
व्यथा के घन, अतृप्ति की आग,
छिपे मानस में पवि नवनीत,
निमिष की गति, निर्झर के गीत।

—महादेवी

इसमें भी लाक्षणिक प्रतीकों द्वारा ही भावों की व्यंजना की गई है। निदाघों के दिन से कठोरता एवं क्रोध का तथा पावस की रात से करुणा का निर्देश होता है। सुधा स्वतः प्रतीक है। उसके मधु के विषय में अब तक कोई निश्चित

धारणा नहीं है। यहाँ इसके प्रयोग का लक्ष्य शीतलता, सरलता तथा शांति का बोध कराना है। मदिरा मादकता से पूर्ण होती है। यहाँ हाला का राग मादकता की ओर ही संकेत करता है। यों तो हाला से ही काम चल सकता था, परंतु गंभीरता के लिये उसका राग (या लालिमा) कर दिया गया है। पवि और नवनीत, दोनो सार्वभौमिक प्रतीक हैं। एक कठोरता का, दूसरा कोमलता का द्योतक है। पलक मारने में बहुत थोड़ा समय लगता है, और निर्भर का कल-कल स्वर निरंतर जारी रहता है। इन्हीं विशिष्टताओं के आधार पर एक का प्रयोग क्षणभंगुरता या अस्थिरता के लिये और दूसरे का अविच्छिन्नता या अविरतता के लिये हुआ है। नीचे के उदाहरण में यद्यपि लाक्षणिक प्रतीक ही है, तथापि उसमें स्पष्टता है—

प्राणों के अंतिम पाहुन !

—महादेवी

यह मृत्यु का निर्देशक सार्वभौमिक प्रतीक है। इस प्रकार के प्रतीक की योजना से भाव की बोधगम्यता में दुर्बोधता नहीं आती।

बहुत स्थलों पर प्रतीक की योजना उपमान के रूप में की गई है। मोती में अश्रु का प्रतीकत्व है। वह नीचे की कविता में उपमान के समान व्यवहृत हुआ है। तारक-पलकों से स्वप्न छिन्न जल बन कर आँसुओं के समान नहीं, मोतियों के समान लुढ़क जाते हैं। लिखा गया है—

हिमजल बन, तारक-पलकों से उमड़ मोतियों-से अवदात,
सुमनों के अधखुले दृगों में स्वप्न लुढ़कते जो नित-प्रात !

—पंत

लाक्षणिक मूर्तिमत्ता का एक उदाहरण—

अभिलाषाओं की करवट,
फिर सुप्त व्यथा का जगना;
सुख का सपना हो जाना,
भीगी पलकों का लगना ।

—प्रसाद

छायावाद में लाक्षणिक प्रयोग बहुत अधिकता से होने लगा है। लाक्षणिकता की अधिकता पश्चिमी साहित्य की प्रेरणा का परिणाम है। बहुत-से विद्वान् लक्षणाओं से न-मालूम क्यों खीझते हैं ? जब लक्षणा के आधार पर अप्रस्तुत-योजना की जाती है, तब कविता की मार्मिकता तथा भाषा की व्यंजकता बहुत अधिक बढ़ जाती है। सूक्ष्म भावों का मूर्त-विधान होता है, और उसके द्वारा प्रभाव में वृद्धि हो जाती है। हाँ, लक्षणा पर लक्षणा करने से कुछ क्लिष्टता अवश्य आती है, लेकिन यह विकासशीलता तथा शैली की प्रगल्भता का परिचायक है। छायावाद में बेढंगा लाक्षणिक चमत्कार दिखलाकर—जिसमें हृदय की अंतर्वृत्तियों के रमाने की शक्ति की कमी हो—भाषा और भाव को दुर्बोध बनाने की प्रवृत्ति का अभाव है। "व्यथाओं का सोना-जगना तो सहा जा सकता है, क्योंकि

अभिलाषाओं को जगते लोग बुरा नहीं मानते; पर जब अभिलाषाएँ करवट बदलने लगती हैं, तो एक अद्भुत दृश्य उपस्थित हो जाता है। जगने के पहले करवटें बदली जाती हैं, पर यहाँ जगना शब्द स्वयं लक्षणा पर निर्भर है। इसके आधार पर और भी आगे बढ़ते चला जाना कहाँ तक उचित है ॐ?" सच्ची कविता वही कहला सकती है, जिसमें भावोद्रेक करने की क्षमता हो। हृदय में भावों की तरंग-माला प्रवाहित करने के लिये भावाभिव्यंजक शब्दों की आवश्यकता पड़ती है। जिस कविता में भावों की व्यंजना करनेवाले जितने ही शब्द रहेंगे, वह उतनी ही उत्तम समझी जायगी। कविता का उद्देश्य भी तो भावों की व्यंजना ही है। अभिलाषाओं की करवट द्वारा कवि उस अवस्था का दिग्दर्शन कराना चाहता है, जब अभिलाषा न तो एकदम सोई रहती है, और न एकदम जगी हो। उस विशेष अवस्था के लिये, जिसे अभिलाषा का प्रारंभिक अथवा उपक्रम-काल कह सकते हैं; जब कवि को कोई भावाभिव्यंजक शब्द नहीं मिला, तब उसने लक्षणा पर लक्षणा की है। इससे भावों की बोधगम्यता में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। इसके प्रयोग का लक्ष्य वैचित्र्य अथवा कुशलता का प्रदर्शन नहीं है। छायावाद-युग लाक्षणिक प्रयोग की प्रारंभिक अवस्था थी।

ॐ आधुनिक हिंदी-साहित्य का इतिहास—श्रीकृष्णशंकर शुक्ल, पृष्ठ-संख्या ३६६, प्रथम संस्करण।

अँगरेजी आदि साहित्य में इसका बहुत विकास हो चुका है। इससे पूर्णतः परिचित न रहने के कारण ही हमारे मस्तिष्क को कुछ श्रम करना पड़ता है, किंतु इसमें घबराने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार की किसी नवीन वस्तु को देखते ही हौवा समझ लेने से साहित्य की विकासशील प्रकृति की अवहेलना होती है। इस प्रकार का कार्य निंदनीय नहीं, सर्वथा सराहनीय है।

सूक्ष्म भावों के गोचर-विधान से कविता की प्रभविष्णुता बहुत अधिक बढ़ जाती है। छायावाद में इस प्रवृत्ति का आधिक्य है। कल्पना का क्रीड़ा करना, पीड़ा का खेलना, अभिलाषा का सिसकना, आशा का हँसना, उल्लास का नाचना, स्वप्न का विचरना आदि इसी प्रकार के प्रयोग हैं—

विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते थे जब स्वप्न अजान।

—पंत

स्वप्न का कोई मूर्त रूप नहीं है। विचरण करने के लिये कम-से-कम दो पैरों की आवश्यकता होती है, किंतु स्वप्न के पास युगपद का अभाव है। इस अवस्था में उसका विचरण असंभव है। ऐसा प्रयोग भावों की गोचरता के अभिप्राय से किया गया है, जिससे हमारे सम्मुख स्वप्न का चलता-फिरता रूप खचित हो जाता है। वस्तुतः काव्य का उद्देश्य भावों को अधिकाधिक बोधगम्य बनाना है।

आशा दुख की छाया में
बेहोश पड़ी है सोती।

—द्विज

मानव-हृदय दुःख के उत्पीड़न से जब त्रस्त हो जाता है, तब आशा ही उसे जीवित रखने में समर्थ होती है। कभी-कभी ऐसा अवसर भी आता है, जब मानव अपनी आशा खो बैठता है। उसी अवस्था का चित्रण कवि ने ऊपर की दो पंक्तियों में किया है। दुःख के आधिक्य से आशा का विनाश नहीं होता. उसकी अवस्थिति मृत्यु के अंतिम क्षण तक रहती है। इस प्रकार दुःख की छाया में आशा का बेहोश होना मनोवैज्ञानिक सत्य है।

मनुष्य के श्रांत होने पर आलस का आगमन होता है, और आलस के बाद परिश्रांति दूर हो जाती है। इसलिये आलस को पाकर श्रम के विश्राम करने की कल्पना स्वाभाविक तथा वैज्ञानिक है—

कामायनी पड़ी थी अपना कोमल चर्म बिछाके,
श्रम-विश्राम कर रहा मानो मृदु आलस को पाके।

—प्रसाद

चाह के द्वारा हमारे हृदय की भावनाओं का जागरण होता है। इसकी व्यंजना कवि ने चाह की मूर्तिमत्ता द्वारा की है। जिस प्रकार वीणा के तार हाथों के स्पर्श से झनझना उठते हैं, उसी प्रकार चाहना की स्फूर्ति से अनेक भावनाओं

की सृष्टि होती है। निम्नावतरण में कवि का अभिप्राय यह है कि मैं तुम्हारी भावनाओं में से एक हूँ—

चाह की मृदु उँगलियों ने छू हृदय के तार—
जो तुम्हीं में छेड़ दी, मैं हूँ वही झंकार !

—महादेवी

लज्जा और करुणा, दोनो अंतर्लोक की भावात्मक विभूति हैं। करुणा मनुष्य के हृदय में दूसरे के दुःख पर जाग्रत् होती है, किंतु लज्जा में करुणा का संचार असंभव है। यहाँ कवि ने 'लज्जा की करुणा' के द्वारा लज्जा की करुणा-पूर्ण अवस्था की लक्षणा की है, जब दुःख के दिन में वह अपनी रक्षा करने में पूर्णतः असमर्थ रहती है—

कलियों की घन जाली में
छिपती देखूँ लतिकाएँ,
या दुर्दिन के हाथों में
लज्जा की करुणा देखूँ ?

—महादेवी

किंतु, लक्षणा के सहारे बहुत दूर तक चला जाना अच्छा नहीं जान पड़ता ! अनेक स्थलों पर इस प्रकार का लाक्षणिक चमत्कार उपस्थित किया गया है, जहाँ क्लिष्ट कल्पना की जरूरत पड़ती है। 'करुणा की नव अँगराई', 'निःश्वासों के रोदन', 'इच्छाओं के चुंबन' आदि से खींच-तान करने पर भी सुंदर अर्थ नहीं निकलता।

जिस प्रकार अमूर्त के लिये मूर्त-विधान किया जाता है, उसी प्रकार गंभीरता लाने के लिये मूर्त को भावात्मक रूप में प्रकट करने की भी प्रवृत्ति है। सूक्ष्म की मूर्तिमत्ता सरल है, किंतु मूर्त को सूक्ष्म भाव के रूप में परिवर्तित करना श्रम-साध्य है। छायावाद में इस प्रकार की प्रवृत्ति का भी दर्शन होता है, किंतु इसका आधिक्य नहीं है। नीचे की पंक्तियों में अपरिचित व्यक्ति, जो मूर्त है, के स्थान पर अपरिचित साँस के व्यवहार से गंभीरता का समावेश हो गया है—

स्वप्न के सस्मित अधर पर नींद में
एक बार किसी अपरिचित साँस का
अर्ध चुंबन छोड़ मैं झट चौंककर
जग पड़ी हूँ अनिल-पीड़ित लहर-सी।

—पंत

मूर्त वस्तु की भावात्मक सत्ता में उस वस्तु की सभी विशेषताओं का संस्थापन बहुत दुरूह-सा है, और वैसा करने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। केवल उस वस्तु की, जिसे भाव के रूप में परिणत करना रहता है, एक मुख्य विशेषता के आरोप से काम चल जाता है। हां, कवि का ध्यान उस विशेषता की सार्वभौमिकता पर अवश्य रहता है। नीचे के अवतरण में लज्जावनता, सुंदर रमणी के लिये 'लाज-भरे सौंदर्य' का प्रयोग बहुत उत्तम बन पड़ा है—

हे लाज-भरे सौंदर्य, बता दो—
मौन बने रहते हो क्यों ?

—प्रसाद

एक दूसरा उदाहरण—

अल्पता की संकुचित आँखें सदा
उमड़ती हैं अल्प भी अपनाव से ।

—पंत

तुच्छ व्यक्ति का हृदय थोड़ा-सा अपनापन प्रकट करने से ही भर आता है, और उसकी आँखों से आँसू टपकने लगते हैं। उसकी संकुचितता की व्यंजना 'संकुचित आँखें' से हो जाती है। यहाँ तुच्छ व्यक्ति के लिये अल्पता का प्रयोग किया गया है। यद्यपि यह प्रयोग सुंदर बन पड़ा है, तथापि इसमें कुछ अस्पष्टता आ गई है।

प्रेम का प्रथम प्रणय-चुंबन
पाश डाले थे कोमल हाथ।

—भगवतीचरण

यहाँ प्रेमी के लिये, जिसका धर्म प्रेम करना है, प्रेम-शब्द का व्यवहार हुआ है। इससे विशेषता यह आ गई है कि प्रेम की मधुमयी सरिता हमारी आँखों के सम्मुख प्रवाहित होने लगती है। धर्मी के लिये धर्म का प्रयोग मूर्त को सूक्ष्म में परिवर्तित करनेवाली प्रवृत्ति के अंतर्गत ही आता है।

साँस दुःख का घूँट नहीं पी सकती। दुःख की अधिकता

से मनुष्य का हृदय आकुल हो जाता है, तब वह 'ठंडी साँसें' छोड़ता है। नीचे के पद्यांश में दुःखित व्यक्तियों के लिये 'ठंडी साँसों' का प्रयोग हुआ है, जिससे भावों में गंभीरता आ गई है—

दुख की घूँटें पीतीं या ठंडी साँसों को देखूँ !

—महादेवी

भारतीय काव्य में सुधा का प्रतीकत्व बहुत दिनों से मान्य है। किसी ने उसे अब तक देखा नहीं, किंतु उसकी अमरता-जन्य आकर्षणकारिता तथा अद्भुत शक्ति ने हमारे हृदय को बहुत अधिक प्रभावित किया है। उसे हमारी संस्कृति तथा सभ्यता के आदर्श की अनुकूलता प्राप्त है। सुंदर रमणी के लिये अमृत की प्राणान्वित लहर कहना बहुत ही प्रभावोत्पादक तथा युक्ति-युक्त है। इससे उसकी मनोहरता तथा आकर्षण-कारिता की व्यंजना होती है—

नित्य ही मानव तरंगों में अतल
मग्न होते हैं कहीं, पर इस तरह
अमृत की जीवित लहर के बाँह में
जगत में कितने अभी झूले भला ?

—पंत

प्रसंग इस लाक्षणिक वक्रता के सौंदर्य को और भी उद्भासित कर देता है। यह उक्ति उस व्यक्ति की है, जो तालाब में डूब गया था, और जिसे एक नायिका ने निकालकर जीवन-दान

दिया था। अमृत का कार्य मृतक को सप्राण करना है, और वही कार्य उस नायिका ने भी किया।

छायावाद में विशेषण-विपर्यय अलंकार का भी प्रयोग बहुतायत से हुआ है। विशेषण-विपर्यय अँगरेज़ी का अलंकार (Transferred Epithat) है। उसका मूल हिंदी-साहित्य में बहुत पहले से था, लेकिन लक्षणावृत्ति की सहायता से उसका बहुत विकास हो गया है। उसमें अभिधावृत्ति के अनुसार विशेषण का जो स्थान निर्धारित है, उसे वहाँ न रखकर लक्षणा द्वारा दूसरी जगह उसकी योजना की जाती है। जैसे—

कल्पने ! आओ, सजनि उस प्रेम की
सजल सुधि में मग्न हो जावें पुनः।

—पंत

प्रिय के बिछुड़ जाने पर उसकी स्मृति-मात्र से आँखें डबडबा आती हैं। सजल होना आँखों का गुण है, किंतु यहाँ इस 'सजल' विशेषण का संबंध आँखों से नहीं, सुधि से है। इस प्रकार विशेषण के विपर्यय से कविता में चमत्कार आ गया है। प्रेम के प्रयोग से, जो प्रिय का धर्म है, प्रभाव की क्षमता बहुत बढ़ गई है।

ऋषियों के गंभीर - हृदय-सी,
बच्चों के तुतले भय-सी।

पंत

कई स्थलों पर केवल चमत्कार और वक्रता के लिये 'नयनों के बाल' (आँसू) 'नयनों के नादान, शिशु' (आँसू) जैसे प्रयोग हुए हैं, किंतु 'अलि-शिशु', 'विहग-कुमार', 'मधुप-कुमारी', 'शिखी-शावक', 'बाल-विद्युत्', 'बाल-रजनी', 'मेघ के सुंदर शावक', 'मराली-बालिका' आदि प्रयोगों का ही आधिक्य है। किसी की महत्ता पर हम आश्चर्य-चकित ही होकर रह जाते हैं, लेकिन शैशव की सरलता तथा निष्कपट सुंदरता हमारे हृदय को विमुग्ध कर देती है। वस्तुतः शिशु-सौंदर्य स्वर्ग-सुख का स्रष्टा है। उसमें पवित्रता तथा मृदुता का अधिवास है। इसीलिये महात्मा ईसा को इस सरल सौंदर्य की उपासना में आनंद की अधिक प्राप्ति होती थी। उन्होंने कहा है—"छोटे-छोटे बच्चों को मेरे पास आने दो, क्योंकि स्वर्ग का राज्य ऐसा ही है।" यही कारण है कि छायावाद को शिशुता के सौंदर्य ने अधिक लुभाया है।

कविता में चित्रोपमता लाने और चित्र में अंतर्जगत् की सूक्ष्म भावनाओं का प्रदर्शन करने का प्रयत्न बहुत दिनों से हो रहा है। कवि के हृदय में चित्र-सौंदर्य प्रच्छन्न रूप से वर्तमान रहता है। कविता जब सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति नहीं कर पाती, तब चित्र के सहयोग द्वारा उन भावों का मूर्त रूप प्रस्तुत करती है। भावों के पूर्ण चित्रांकन में ही कवि की सफलता है। निगूढ़तम विचार, मृदुलतम भाव और स्वर्गोपम कल्पना के रहते हुए भी चित्र

की पूर्णता के अभाव में कविता अपनी मनोहरता की रक्षा नहीं कर सकती। अंतर्लोक के मधुर भावों को अलंकार, छंद, भाषा आदि द्वारा चित्रमयता प्राप्त होती है; किंतु जो पूर्णतः अनिर्वचनीय और भाषातीत है, उसकी अभिव्यक्ति के लिये संगीत का आश्रय लेना पड़ता है। चित्र भावों को मूर्तता प्रदान करता है, और संगीत उनमें गतिशीलता भरकर प्राण-संचार करता है। संगीत की गतिशीलता ही कविता और चित्र में सजीवता, हृदय-स्पर्शिता तथा भावमग्नता प्रदान करती है। चित्र में संगीत नीरव रहता है, और कविता में स्वर-युक्त। स्वर-युक्त संगीत की अपेक्षा नीरव संगीत की अनुभूति कराना कठिन है। यहाँ कवि की तुलना में चित्रकार का अधिक महत्त्व है, किंतु उसे कवि के समान अभिनव वस्तुओं की सृष्टि की आकांक्षा नहीं रहती। वह वस्तुओं के रूप में आत्मस्पंदन देकर ही संतुष्ट हो जाता है। कवि सौंदर्य के स्थूल चित्रों के अतिरिक्त गत्यात्मक सौंदर्य को भी अपनी कविता में प्रतिष्ठित करता है, क्योंकि उसके पास नाद-सौंदर्य का विस्तृत वैभव संचित है, किंतु चित्रकार क्रियाशीलता के चित्रांकन में पूर्ण सफल नहीं हो सकता, वह गति की एक चंचल झाँकी दिखाकर ही बैठ जाता है। अंतर्वृत्तियों की सूक्ष्म, किंतु विस्तृत व्याख्या कविता द्वारा ही संभव है। चित्र एक अद्भुत क्षण की, एक अनुपम काल की ही अनुभूति प्रदान करने में समर्थ है। उसमें कविता की विस्तृति और

भावों के मर्म तक पहुँचने की क्षमता का अभाव है। चित्र-सौंदर्य नेत्रों के सन्निकर्ष से हृदय पर प्रभाव डालता है, और काव्यगत चित्र मन के माध्यम से आँखों के सम्मुख रूप संघटित करता है। कवि के चित्रों में चित्रकार के चित्र की अपेक्षा अधिक रमणीयता तथा मार्मिकता रहती है। चित्र कविता का साधन-मात्र है, लेकिन उसकी उपेक्षा करने से कविता में संपूर्णता नहीं आ सकती, क्योंकि भावों के गोचर-विधान से ही मानव-हृदय पर अभीष्ट प्रभाव संभव है, और भावों की मूर्तिमत्ता के लिये चित्र का सहयोग अनिवार्य है। छायावाद ने चित्रोपमता को एक आवश्यक अंग के रूप में अपनाया है। अतएव उसमें सजीवता का अधिक समावेश हो गया है। रंगों के सूक्ष्म ज्ञान के कारण काव्यगत चित्रों की मनोहरता तथा रमणीयता बहुत बढ़ गई है। लज्जा की ईषत् लालिमा की, पाटल की सुर्ख गुलाबी की और गुलाल की गहरी लाली की उनके भेदों को दृष्टि में रखकर योजना की गई है। ताम्र, स्वर्ण, रजत, विद्रुम, मरकत, नीलम आदि के रंगों की बारीकी से चित्रों का सौंदर्य उद्भासित हो उठा है। रंगों की विभिन्नता की पहचान तथा उनका कविता में उपयुक्त स्थलों में संस्थापन बहुत कठिन है। संस्कृत के कादंबरीकार बाणभट्ट इस कला के आचार्य थे। एक ही रंग के अनेक सूक्ष्म भेदों का दर्शन उनकी रचना में होता है। उनका लाल रंग कहीं लाक्षा के समान है, कहीं कबूतर के

खजूरे के समान और कहीं सिंह के खून से रँगे नखों के समान है। छायावादी कवियों ने विभिन्न रंगों में रँगी प्रकृति को हृदय के योग से देखा है, इसीलिये वे रंगों के सूक्ष्म भेदों को अलग-अलग दिखाने में समर्थ हो सके हैं। प्राकृतिक पदार्थों के रंगों के अतिरिक्त भावगत रंगों (लज्जा से लालिमा, स्मिति से उज्ज्वल प्रकाश आदि) द्वारा भी काव्यगत चित्रों का शृंगार किया गया है। अतः छायावाद की चित्रोपमता वर्ण-योजना की विकसित कला के स्पर्श से चमक उठी है।

नीचे की पंक्तियों में संध्या का मदिर नारी-रूप कवि की कल्पना तथा व्यंजना-कुशलता से निखर उठा है। उसके सुन्दर कपोलों पर लज्जा की हलकी लालिमा है, उसकी भवें टेढ़ी और भावों से बोझिल हैं, उसकी सुनहली कुंतल-राशि इधर-उधर फैली हुई है, उसके स्वर्णाचल हवा के झोंके में फहरा रहे हैं, उसके पैरों के नूपुरों में खग-कुल की मधुर ध्वनि गुंजित होती है, और वह एकाकिनी बादल के स्वर्ण-हिंदोल पर चुपचाप मंथर गति से उतर रही है। इसमें सांध्य सुषमा की सभी विशेषताएँ समन्वित हैं, और रंगों का संपान-संतुलन हुआ है, किंतु सुनहले केश की कल्पना भारतीय काव्य के लिये उपयुक्त नहीं जान पड़ती—

कहो, तुम रूपसि, कौन ?
व्योम में उतर रही चुपचाप,

छिपो निज छाया-छवि में आप,
सुनहला फैला केश-कलाप,—
मधुर, मंथर, मृदु, मौन!
मूँद अधरों में मधुपालाप,
पलक में निमिष, पदों में चाप,
भाव-संकुल, बंकिम, भ्रू-चाप,
मौन, केवल तुम मौन!
अनिल-पुलकित स्वर्णांचल लोल,
मधुर नूपुर-ध्वनि खग-कुल-रोल,
सीप से जलदों के पर खोल,
उड़ रही नभ में मौन!
लाज से अरुण-अरुण सुकपोल,
मदिर अधरों की सुरा अमोल,
बने पावस-घन स्वर्ण-हिंडोल,
कहो, एकाकिनी तुम कौन?
मधुर, मंथर, मृदु, मौन!

—पंत

संध्या का इससे भी सुंदर चित्र प्रस्तुत किया गया है। सूर्य जब अपनी ज्योति समेटकर पश्चिम की ओर बिदा होता है, तब संध्या-सुंदरी उधर से मादकता लेकर आती है। उसका तिमिरांचल वायु के प्रबल झकोरे से चंचल नहीं, स्थिर है। उसके अधरों में मुसकान की बिजली नहीं चमकती,

वरन् गंभीरता का अवस्थान है। केवल एक प्रकाश-पूर्ण तारा उसके घुँघराले, काले-काले बालों में गुँथा हुआ है, और हँस-हँसकर अपने हृदय-राज्य की रानी का अभिषेक कर रहा है। वह अलसता की लता के समान नीरवता-सहचरी के कंधे पर बाँह डालकर छाया के समान आकाश-मार्ग से धीरे-धीरे आ रही है। न उसके हाथों में वीणा है, और न उसके पैरों में नूपुर। सभी दिशाओं में नीरवता का साम्राज्य है—

वह संध्या-सुंदरी परी-सी
धीरे-धीरे,
तिमिरांचल में चंचलता का कहीं नहीं आभास,
मधुर-मधुर हैं दोनो उसके अधर,—
किंतु ज़रा गंभीर,—नहीं उनमें है हास-विलास।
हँसता है, तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन घुँघराले, काले-काले बालों से,
हृदय-राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक।
अलसता की-सी लता,
किंतु कोमलता की वह कली,
सखी नीरवता के कंधे पर डाले बाँह,
छाँह-सी अंबर-पथ से चली।
नहीं बजती उसके हाथों में कोई वीणा,
नहीं होता कोई अनुराग-राग-आलाप,
नूपुरों में भी रुनझुन-रुनझुन-रुनझुन नहीं,

सिर्फ़ एक अव्यक्त शब्द-सा "चुप, चुप, चुप!"
है गूँज रहा सब कहीं।

—'निराला'

संध्या-कालीन सुषमा का कितना सुंदर चित्र है! वसंत-रजनी का एक चित्र—

धीरे-धीरे उतर क्षितिज से
आ वसंत रजनी!

तारकमय नव-वेणी बंधन,
शीश-फूल कर शशि का नूतन,
रश्मि-वलय, सित-घन-अवगुंठन,
मुक्ताहल अविराम बिछा दे
चितवन से अपनी!
पुलकती आ वसंत-रजनी!

—महादेवी

उसकी वेणी तारिकाओं से जगमगा रही है, चंद्रमा उसका 'शीश-फूल' है, उसके कोमल हाथों में रश्मियों की मनोहर चूड़ियाँ हैं, और चीनांशुक-जैसे उजले बादल के हलके घूँघट से आवेष्टित है। चित्र स्वाभाविक सौंदर्य से प्रस्फुटित हो उठा है।

नीचे के अवतरण में प्रभात-काल का चित्रांकन है, जब धीरे-धीरे आकाश के तारे विलीन होते जाते हैं, पेड़ों पर चिड़ियों का मधुर कूजन होता है, पवन के मादक स्पर्श से

किसलय-दल पुलक से सिहर उठता है, और लतिकाओं की नव-कलिकाएँ मधु-रस से भर उठती हैं। यद्यपि 'उषा-नागरी' का सांगोपांग तथा संश्लिष्ट वर्णन इसमें नहीं है, तथापि किसी प्रकार के अभाव का दर्शन नहीं होता—

बीती विभावरी, जाग री!
अंबर-पनघट में डुबो रही
तारा - घट उषा - नागरी!
खग-कुल कुल-कुल-सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो, यह लतिका भर लाई—
मधु मुकुल नवरस गागरी!
बीती विभावरी, जाग री!

—प्रसाद

अब मधुमास के प्रभात का एक सौंदर्य-पूर्ण, मदिर चित्र देखिए, जो कवि की लेखनी के स्पर्श से सजीव हो उठा है। इसे पढ़ते ही हमारी आँखों के सम्मुख चंपक रंगवाली मधुमयी उषा का चित्र खिंच जाता है, जिसका मुख कमल के समान सुंदर है, जिसके कपोलों पर लज्जा-जनित अरुणाभा है, जिसके अधरों पर गुलाबी मुसकान है, और जिसका सिर नम्रता से अवनत है—

आज रे, मधु का पुलकित प्रात,
अरुण - सस्मित, नत - भाल!

स्फीत मुक्ता-सा मुख जलजात !
लाज से लोहित गाल !
प्राण, आया विस्मय अवदात,
सजल, चंपक-सा गात !

—आरसी

छायावाद के अधिकांश चित्रों का आलेखन गहरे रंगों द्वारा ही हुआ है, जिनमें सुनहला, रुपहला, लाल, काला, श्यामल आदि रंगों से विशेष सहायता ली गई है। ऐसे चित्रों का भी अभाव नहीं, जिनमें प्रकाश और रेखाओं द्वारा ही पूर्णता प्रदान की गई है। इसमें रंगीन रेखा-चित्रों की भी प्राप्ति होती है, जिनमें संपूर्णता तो नहीं रहती, लेकिन वस्तुओं की अनुपम झलक प्रदर्शित की जाती है, जिससे हमारे मन में सौंदर्य का रूप अंकित हो जाता है। नीचे के दोनो अवतरणों में संध्या और प्रभात का, दिवा और रात्रि का यही रंगीन रेखांकन है—

(१) गुलालों से रवि का पथ लीप,
जला पश्चिम में पहला दीप,
विहँसती संध्या भरी सुहाग,
दृगों से झरता स्वर्ण-पराग।

और (२) स्मित ले प्रभात आता नित,
दीपक दे संध्या जाती;

दिन ढलता सोना बरसा,
निशि मोती दे मुस्काती।

—महादेवी

गत्यात्मक सौंदर्य में यह विशेषता है कि वह हृदय को सदा अपनी ओर आकर्षित किए रहता है। चलते-फिरते चित्रों का अंकन स्थिर चित्रों की अपेक्षा कठिन है। गतिशील चित्र बहुत आह्लादकारी तथा प्रभावोत्पादक होता है। सीधे-सादे शब्दों में बाल-क्रीड़ा में रत मार्जार-बाला का सुंदर चित्रालेखन है। उसके क्रिया-कलापों की गतिशीलता चित्र में भी वर्तमान है—

तूल सी मार्जार - बाला सामने
निरत थी निज बाल-क्रीडा में कभी;
उछलती थी, फिर दुबककर ताकती,
घूमती थी साथ फिर-फिर पूँछ के।

—पंत

नीचे की पंक्तियों में चुंबन से चकित होना, चंचलता से इधर-उधर देखना, मुख फेर लेना, कभी हँसना, कभी डरना आदि के चित्र चित्रपट के समान चलते-फिरते प्रतीत होते हैं—

चुंबन चकित चतुर्दिक चंचल
हेर, फेर मुख, कर बहु सुख छल

कभी हास, फिर त्रास, साँस-बल
उर - सरिता उमगी ।

—'निराला'

छायावाद में भावों का भी सुंदर चित्र खींचा गया है, जहाँ उनकी सारी बारीकियों का समारोप है। लज्जा के परिचय द्वारा उसका सुंदर और मनोहर चित्र नीचे के उद्धरण में खचित हुआ है—

लाली बन सरल कपोलों में
आँखों में अंजन-सी लगती;
कुंचित अलकों में घुँघराली
मन का मरोर बन जाती।

चंचल किशोर सुंदरता की
मैं करती रहती रखवाली;
मैं वह हलकी-सी मसलन हूँ,
जो बनती कानों की लाली।

—प्रसाद

संगीत की मधुर रागिनी का प्रभाव विश्व के सभी प्राणियों पर पड़ता है। उसे सुनकर मानव अपनी सत्ता तथा परिस्थिति का ज्ञान भूलकर उसमें तन्मय हो जाता है। उसकी मधुरता राग-द्वेष, सफलता-असफलता, विकलता-विह्वलता और दुःख-दीनता को विस्मृत कर देती है। वह अपनी शक्ति से मानव को बरबस अपनी ओर खींच लेती

है, चाहे उसमें भावों का अभाव ही क्यों न हो। जब सूर्योदय के समय कोई गाड़ीवान अपनी गाड़ी पर बैठे ग्राम-गीत की कोई लड़ी गा उठता है, तब सहसा हम उस ओर आकृष्ट हो जाते और विस्मय-विमुग्ध होकर सुनने लगते हैं। किसी के बिना आशय के गुनगुना उठने पर भी हमारा हृदय उसे सुनने के लिये लालायित हो उठता है। यद्यपि उसमें भावों का अभाव रहता है, तथापि राग, लय, स्वर आदि से—जो संगीत के प्रधान अवयव हैं—हम प्रभावित हो जाते हैं। मानव-हृदय की भावनाओं के उच्छ्वास से कविता और संगीत का उद्भव होता है। कविता और संगीत का अविच्छिन्न संबंध अस्वीकार नहीं किया जा सकता। एक अँगरेज विद्वान् के विचारानुसार कविता शब्दों के रूप में संगीत है, और संगीत स्वर-रूप में कविता है। संगीत का संबंध विश्व के अणु-परमाणु से है। वायु की सन्-सन् ध्वनि में, बादल के गर्जन-तर्जन में, सरिता के कल-कल स्वर में, समुद्र के गंभीर घोष में, पक्षी की चहचहाती आवाज में, जहाँ देखिए, वहाँ संगीत व्याप्त है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि संगीत ही अनभिव्यक्त भावों को साकारता तथा गतिशीलता प्रदान करता है। कविता नाद-सौंदर्य के लिये संगीत को अपनाती है, जिससे उसकी सजीवता तथा मर्मस्पर्शिता अधिक बढ़ जाती है। नाद-सौंदर्य-समन्वित कविता अधिक समय तक जगत् में जीवित रहती है,

और उसका प्रसार भी अधिक होता है, किंतु उसके अभाव में कविता ग्रंथ की वस्तु बनी रह जाती है। आल्हखंड के अब तक जीवित रहने का श्रेय संगीत को ही है। यही बात विद्यापति, सूर आदि के पदों के संबंध में कही जा सकती है। इस विशेषता पर छायावाद का विशेष ध्यान है, और इसीलिये गेय पदों की रचना की ओर ही उसका झुकाव है। उनमें गति, लय, प्रवाह आदि के समन्वय से अधिक मधुरता आ गई है। छायावाद का गीति-काव्य प्राचीन गीति-काव्य का कलात्मक संस्करण है, और वह छंद-विधान द्वारा ही अनुशासित है, क्योंकि छायावादी कवि समझते हैं कि छंदों का आधार नाद-सौंदर्य है, और उसके द्वारा काव्य को दीर्घायु प्राप्त होता है। इसीलिये उन लोगों ने प्राचीन छंदों का उपयोग बिना हिचकिचाहट के किया, और नवीन छंदों के निर्माण में भी पीछे नहीं रहे। छंदों की रचना में उन लोगों की प्रवृत्ति विद्वत्ता प्रदर्शित करने तथा केवल विद्रोह को सार्थकता प्रदान करने के निमित्त नहीं है, वरन् भावाकुल हृदय की अभिव्यक्ति करना मुख्य लक्ष्य है। अतः छायावाद के सभी नवीन छंदों में छंद की सभी विशेषताएं, संगीत की लहर तथा राग की धारा प्राप्त होती है।

छायावाद ने शास्त्रानुमोदित छंदों के अतिरिक्त पद्य-व्यवस्था से मुक्त काव्य-रचना भी की है, जिनमें मुक्त छंद तथा अतुकांत कविताएँ हैं। छंद और तुक नाद-सौंदर्य के

लिये आवश्यक है। तुक लय का शासक है। वह छंदों के चरण के बीच का स्वर-वैभिन्य दूर कर देता है, और स्वर को समेट-कर एक ताल पर बैठा देता है। संस्कृत-वृत्तों में अंत्यानुप्रास-हीनता उतनी नहीं खटकती, क्योंकि उनमें लघु-गुरु के क्रम का नियमन रहता है, किंतु मात्रिक छंदों में उसका अभाव खटकने लगता है। छायावाद में मात्रिक अतुकांत का ही आधिक्य है। भिन्न-तुकांत कविताओं के अतिरिक्त छंद (Metre) से हीन-पथ की भी रचना हुई, जिसका विरोध 'रबड़ छंद,' 'केंचुआ छंद' 'कंगारू छंद' आदि कहकर किया गया, किंतु इसे भी शास्त्र का अनुमोदन प्राप्त है। ऋग्वेद के बहुत-से ऐसे मंत्र हैं, जिनके चरण छोटे-बड़े हैं, लेकिन छायावाद में यह प्रवृत्ति संस्कृत की ओर से नहीं, पाश्चात्त्य साहित्य से आई है। अमेरिका के कवि वाल्ट ह्विटमैन ने, सन् १८५५ ई० में, छंद-हीन कविता की रचना की। उसके बाद अन्य साहित्य में इसका प्रचार तथा प्रसार हुआ। शास्त्रानुमोदित छंदों के सभी चरणों में मात्राएँ सीमित रहती हैं। अतएव भावों का प्रसार छंद के अनुसार करना पड़ता है। बहुत जगह चरणों की पूर्ति के लिये अनावश्यक शब्दों की भी योजना करनी पड़ती है, जिससे काव्य के स्वाभाविक सौंदर्य का समुचित विकास नहीं हो पाता। मुक्त छंद में भावों के अनुसार चरण छोटे-बड़े होते हैं, क्योंकि उसका लक्ष्य बाह्य साम्य नहीं, अंत:साम्य है। मुक्त छंद का प्रधान

लक्षण छंद-शास्त्रों के सभी नियमों से मुक्ति है। "जहाँ मुक्ति रहती है, वहाँ बंधन नहीं रहते, न मनुष्यों में, न कविता में। मुक्ति का अर्थ ही है बंधनों से छुटकारा पाना। यदि किसी प्रकार का शृंखला-बद्ध नियम कविता में मिलता गया, तो वह कविता उस शृंखला से जकड़ी हुई ही होती है, अतएव उसे हम मुक्ति के लक्षणों में नहीं ला सकते. न उस काव्य को मुक्त काव्य कह सकते हैं॥" छंद परिमित लयका साँचा है, परंतु मुक्त छंद में लय की स्वतन्त्रता रहती है। उसकी रचना भावयोग के अनुसार नाद-स्फोट और लय-विराम के सिद्धांत पर होती है। उसके चरणों की मात्रा की अनिश्चितता तथा असमानता के बीच एक स्वर-धारा निहित रहती है, जिससे उसकी गणना छंदों में होती है। स्वर-धारा के अतिरिक्त उसमें गणवृत्तों की तरह गणों की, मात्रिक वृत्तों की तरह मात्राओं की और वर्णवृत्तों (कवित्त आदि) के समान वर्णों की समानता नहीं रहती। "इस छंद में (Art of reading) का आनंद मिलता है[]।" मुक्त छंद को रचना स्वतंत्रता के नाम पर ही की गई है, परंतु जहाँ स्वतंत्रता का दुरुपयोग किया गया है, वहाँ कविता गद्यवत् हो गई है, और सौंदर्य का अभाव दिखाई देता है। छायावाद में दो तरह के मुक्त छंद अपनाए गए

॥१ निराला—परिमल, भूमिका, पृष्ठ २।

[]२. वही— " " पृष्ठ १२.

हैं—एक अतुकांत मुक्त छंद और दूसरा सतुकांत मुक्त छंद, लेकिन दोनों में अधिक अंतर नहीं है। अतुकांत मुक्त छंद का सुंदर प्रवाह-मय उदाहरण देखिए—

यह एक संध्या थी,
श्यामा सृष्टि युवती थी,
तारक-खचित नील पट परिधान था।
अखिल अनंत में
चमक रही थीं लालसा की दीप्त मणियाँ—
ज्योतिर्मयी, हासमयी, विकल विलासमयी।
बहती थी धीरे-धीरे सरिता
उस मधु यामिनी में,
मदकल मलय पवन ले-ले फूलों से
मधुर मरंद-बिंदु उसमें मिलता था।

—प्रसाद

सतुकांत मुक्त छंद—

धँसता दल दल,
हँसता है नद खल् खल,
बहता, कहता कुल-कुल, कल-कल, कल-कल
देख-देख नाचता हृदय
बहने को महाविकल—बेकल,

इस मरोर से—इसी शोर से
सघन घोर गुरु गहन रोर से
मुझे गगन का दिखा सघन वह छोर !
राग अमर ! अंबर में भर निज रोर !

—'निराला'

छायावाद ने कवियों के हृदय में सहृदयता का जन्म दिया, जिससे सभी प्रकार के छंदों को अपनाने की प्रवृत्ति उनमें जाग्रत् हुई। जिस छंद को भी छायावाद ने अपनाया है, केवल अभिव्यक्ति की सुलभता के लिये। किसी भी छंद के निर्माण में कवि का लक्ष्य पांडित्य-प्रदर्शन नहीं रहा है। इसीलिये नवीन छंदों में भी भावाकुल हृदय की पूर्ण व्यंजना हो सकी है।

द्विवेदी-काल भाषा का प्रयोग-काल था, और छायावाद-युग खड़ी बोली का विकास-काल। द्विवेदी-कालीन कविता भावपक्ष की दृष्टि से जितनी ही शुष्क थी, भाषा की प्रांजलता की दृष्टि से भी उतनी ही नीरस। छायावाद की अंतर्भावों की व्यंजन ने भाषा की खड़खड़ाहट दूर की, और उसमें कोमलता, मधुरता तथा रसार्द्रता का समन्वय किया। भाषा में स्निग्ध, प्रसन्न और प्रांजल प्रवाह का आगमन हुआ। उसकी भाव-साधना के समान ही शब्द-साधना भी अंतस्तल की मधुर ज्योति से उद्दीप्त है। भावों की सुंदरता तथा सुवरता भाषा में पूरी तरह घुल-मिल गई है। इसका प्रत्येक शब्द

हृदय के मधुर रस से सिंचित है। उसके एक-एक शब्द की ख़ास क़ीमत है, क्योंकि शब्द की प्रवृत्ति पर उसका बहुत ध्यान है। भावों के अनुरूप शब्दों के प्रयोग से कविता की मार्मिकता बढ़ जाती है। एक ही शब्द के बहुत-से पर्यायवाची शब्द होते हैं, लेकिन संगीत-भेद के कारण उनके द्वारा एक ही पदार्थ के विभिन्न रूपों की व्यंजना होती है। 'झनकार' में जितनी मधुरिमा है, उतनी 'झंकार' में नहीं। एक वीणा के तारों की, कर के मधुर स्पर्श की मीठी आवाज़ है, तो दूसरा ज़ोर के आघात से निकला हुआ स्वर। एक हमारे कानों में मधु-मिसरी उड़ेलता है, तो दूसरा कान फाड़ने को तैयार दिखाई पड़ता है। 'फूत्कार' से सर्प के फण उठाकर फुफकार करने का चित्र खिंच जाता है। 'आँधी' से 'झंझा' की स्वरूप-व्यंजना नहीं होती। 'झकोर' से वृक्ष के झकझोरने का दृश्य उपस्थित हो जाता है, तो 'हिलोर' से छोटी-छोटी लहरियों की उठान का। 'सरकना' शब्द से धीरे-धीरे चलने और रुकने का भाव मालूम होता है। कविता से एक शब्द भी हटाने पर भावों की स्पष्ट अनुभूति नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त अनुकूल शब्दों द्वारा भी भाव-व्यंजना को स्पष्टता प्रदान की गई है। नूपुरों की मंद-मंद मधुर ध्वनि के लिये 'रुनझुन, रुनझुन, रुनझुन,' निर्झर की आवाज़ के लिये 'झर-झर', 'कल-कल', 'छल-छल', मधुर हास्य के लिये 'खल-खल', नीरवता के लिये 'चुप-चुप-चुप', झींगुर के

स्वर के लिये 'गुरु गंभीर घहर' आदि का व्यवहार बहुत ही सुंदर तथा युक्ति-युक्त है। इससे व्यक्ति-गत भावों का चित्र हमारी आँखों के सम्मुख खचित हो जाता है।

कविता की श्री और सौंदर्य-साधना के लिये छायावाद ने यथेष्ट परिमाण में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है। यद्यपि अरबी-फ़ारसी के शब्दों का भी व्यवहार हुआ है, तथापि वे उसकी संस्कृति तथा प्रकृति के अनुकूल नहीं हैं। उर्दू-शब्दों में हलकापन रहने के कारण उनसे गंभीर भावों की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। अतएव संस्कृत के शब्दों का ही छायावाद में प्राधान्य है। किंतु शब्दों की प्रकृति से पूरी तरह परिचित रहने के कारण उनमें कोमलता, सस्वरता तथा चित्रमयता का सन्निवेश और भावों का हृत्स्पंदन तथा उनके श्वास-प्रश्वास का स्वाभाविक वेग है। कम शब्दों में अधिक भावों की व्यंजना के लिये सामासिक भाषा की आवश्यकता पड़ती है, और छायावाद ने उसका उपयोग कर अर्थ-गौरव की अभिवृद्धि की है, किंतु "उत्ताल-तरंगाघात-प्रलय-घन-गर्जन-जलधि-प्रबल में" (—'निराला') - जैसी समास-बहुल भाषा का अभाव है। भावों के अविकल स्फुरण के लिये स्वप्निल, उर्मिल, फेनिल, रोमिल, बोभिल, पंकिल, सर्पिल, स्नेहिल, तंद्रिल आदि-जैसे नवीन शब्दों की सृष्टि की गई है, जो कविता में विशेषण के रूप में व्यवहृत हुए हैं। व्याकरण-सम्मत प्रयोग की ओर छायावाद

का ध्यान है, किंतु स्थल-स्थल पर कोमलता की रक्षा के लिये लिंग-विपर्यय तथा शब्दों का रूप-विपर्यय भी कर दिया गया है। बड़ी-बड़ी क्रियाओं का सर्वत्र अभाव है, क्योंकि उनसे भाषा की मधुरता पर आघात पहुँचता है। इसकी भाषा का एक बहुत बड़ा दोष न्यूनपदत्व-जनित अस्पष्टता है। शब्दों की कमी के कारण कविता का आशय जल्द ग्रहण नहीं होता, जिससे उसमें कुछ दुर्बोधता आ गई है। कहीं-कहीं अन्य भाषाओं के प्रयोग भी यथातथ्य रूप में मिलते हैं। वाक्य-संगठन पर अँगरेजी-भाषा का कुछ प्रभाव लक्षित होता है। व्याकरण के नियमानुकूल ही वाक्य-रचना का संगठन हुआ है। शब्दालंकारों द्वारा भाषा की सौंदर्य-श्री संवर्द्धित होती है। स्थान-स्थान पर अनुप्रास आदि अलंकारों की कमी नहीं, किंतु कहीं भी उनका दुरुपयोग नहीं हुआ है। वे स्वभावतः काव्य में स्थान पा गए हैं। उनकी योजना के लिये किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं लक्षित होता। इसीलिये भाषा में सर्वत्र स्वच्छता तथा सुंदरता का और वाक्य-रचना में उत्तम व्यवस्था का दर्शन होता है। मुहाविरे के प्रयोग की ओर छायावाद का झुकाव नहीं, लेकिन उसका पूर्णतः बहिष्कार नहीं किया गया है। जगह-जगह व्यंजना-पूर्ण सुंदर मुहाविरों का भी नियोजन हुआ है, किंतु उनकी संख्या परिमित है। सारांश में छायावाद की भाषा सरस, सुंदर, प्रांजल तथा प्रौढ़ है। उसका प्रत्येक अवयव सशक्त तथा मांसल है, और

उसकी स्नायुओं में सबलता का आधिक्य है। उसमें गद्य की शुष्कता तथा नीरसता नहीं, वरन् काव्य-भाषा के स माधुर्य और सौकुमार्य का सन्निवेश है।

उपसंहार

गतिशीलता के अभाव में जीवन निष्क्रिय हो जाता है। इस नियम से साहित्य भी अलग नहीं है। साहित्य के सभी अवयवों में, भाव, भाषा, अभिव्यंजना-शैली में, समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है। रीति-काल की कविता की भाषा में प्रगति का आभास मिलता है, किंतु उसके आभ्यंतरिक भाव रूढ़िवादिता से ओत-प्रोत थे। भारतेंदु-काल में उसका कुछ परिमार्जन हुआ, और द्विवेदी-युग में उसका रूप बहुत परिवर्तित हो गया। इतिवृत्तात्मकता तथा शुष्कता के आधिक्य के कारण उस काल की कविता के विरुद्ध आंदोलन हुआ, जिसके परिणाम-स्वरूप काव्य-जगत् में छायावाद आविर्भूत हुआ। पुराने कवियों ने इस नवीन कविता का विरोध किया। उनके विरोध का कारण प्राचीन परंपरा के प्रति अतीव अनुराग था। उनके विरोध का मानसिक पक्ष एकदम ही दुर्बल था। धीरे-धीरे छायावाद को साहित्य-कारों का समर्थन तथा सहानुभूति प्राप्त होती गई, और यह सिद्ध हो गया कि छायावाद 'अर्थ-हीन व्यर्थ प्रलाप' नहीं है, वरन् कविता की एक नवीनतम धारा है, जो काव्य की सभी बारीकियों से आवेष्टित है। उसके मूल्य में चिरंतन

सत्य की अवस्थिति है। प्रारंभ में उसका कितना ही विरोध क्यों न हुआ हो, किंतु आज उसकी उत्कृष्टता के विषय में किसी प्रकार का संदेह नहीं रह गया। वस्तुतः काव्य-प्रवृत्तियों का मूल्यांकन उस युग के कुछ दिनों के बाद होता है।

आज हिंदी-काव्य-जगत् में अनेक प्रकार की काव्य-धाराओं का प्रादुर्भाव हुआ है, और उनमें छायावाद की कुछ-न-कुछ कलात्मक विशेषताओं का समन्वय है। उसकी इस सर्व-व्यापकता को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। द्विवेदी-युग के उन प्रमुख कवियों ने, जो आज जीवित हैं, छायावाद की प्रवृत्तियों को अपनाने में संकोच नहीं किया है। उसकी विशेषताओं के अतिरिक्त उसके दोषों (अनंत, असीम शब्दों के व्यवहार आदि) को भी ग्रहण किया है। 'उस पार', 'इस पार', 'अनंत', 'असीम', 'हृत्तंत्री', 'वीणा' आदि का प्रयोग उसके उद्भव-काल में अधिक हुआ था। ऐसी प्रवृत्ति उन लोगों में अधिक पाई जाती थी, जिन्हें कवि बनने का बहुत हौसला था। इन शब्दों की अधिक योजना से कविता का महत्त्व कदापि नहीं बढ़ सकता। केवल हृत्तंत्री की मधुर रागिनी छेड़कर 'प्रियतम' के लिये सतत लालायित रहना ही छायावाद नहीं है। वस्तुतः प्रगति से कोई असहयोग नहीं कर सकता। जो छायावाद की क्रांतिकारी प्रवृत्ति से दूर रहना चाहते थे, उन लोगों ने भी छंद-योजना तथा भाव-व्यंजना में

छायावाद की विशेषताओं को अपनाया है, और ऐसा करने से उनकी कविता की मार्मिकता बहुत बढ़ गई है। उदाहरण-स्वरूप—

प्रिय के व्रत में विघ्न न डालूँ, रहूँ निकट भी दूर;
व्यथा रहे, पर साथ-साथ ही समाधान भरपूर।
हर्ष डूबा हो रोदन में,
वही आता है इस मन में।

—मैथिलीशरण गुप्त

भौतिकता की प्रतिक्रिया होने के कारण छायावाद में जीवन की ठोस वास्तविकता के प्रति अरुचि है, इसलिये काल्पनिक जगत् की सृष्टि की ओर उसका अधिक आकर्षण है। व्यक्तिगत जीवन के संयोग-वियोग, प्रकृति के उल्लास-अवसाद और अनंत सत्ता के आकर्षण-विकर्षण के अतिरिक्त इतर व्यक्तियों के हास्य और अश्रु को उसमें स्थान नहीं मिला। पत्थर का रोना सुननेवाले अपने बग़ल की दीन-हीन मानवात्मा की विकलता पर आँसू की दो बूँदें नहीं टपका सके। इसीलिये आज छायावाद अपना आख़िरी दम तोड़ रहा है। जिन कवियों ने छायावाद का पालन-पोषण किया था, आज वे ही उसकी उपेक्षा कर प्रगतिवाद की आराधना में तन्मय हैं। मानवता की प्रताड़ना, उसकी आह और चीत्कार सुनकर कोई सच्चा कवि अपनी आँखें नहीं फेर सकता। मानव की दारुण यंत्रणा से व्याकुल

होकर ही प्रगतिवाद जीर्ण-पुरातन के विनाश तथा नवल मानवता के निर्माण में व्यस्त है—

नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण-पुरातन,
ध्वंस-भ्रंश जग के जड़-बंधन,
पावक-पग धर आवे नूतन,
हो पल्लवित नवल मानवपन।

—पंत

इसके आगे जब कवि कहता है—

हास-अश्रु, आशाऽकांक्षा
बन जायँ खाद्य, मधु, पानी।

तब वह कवि न रहकर भयंकर अर्थ-शास्त्री बन जाता है, जो गुलाब और मल्लिका की अपेक्षा बैंगन और टमाटर को ही सब महत्त्व प्रदान करता है। इस प्रकार की कविता से मानव-हृदय के भाव उच्छ्वसित नहीं हो सकते, जो उसका साध्य है। जीवन की ऐहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये इस प्रकार की लेक्चरबाज़ियों का संग्रह बनकर कविता अपनी मार्मिकता तथा महत्ता की रक्षा नहीं कर सकती। खाद्य, मधु और पानी जीवन के लिये आवश्यक है, किंतु जीवन का चरम लक्ष्य एकमात्र उन्हीं में सिमटा नहीं है। जीवित रहने के लिये मनुष्य भोजन करता है। उसमें उसकी विवशता है। मानव-जीवन का लक्ष्य तो आत्मा का विकास है, आध्यात्मिकता की समुन्नति

है, जिसके साधनों में ऐहिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी विशिष्ट है। कविता हमारी आत्मिकता का विकास कर उसी लक्ष्य-पथ पर आरूढ़ करती है। जिस दिन हमारा हृदय शेष प्रकृति के साथ आत्मीयता का स्थायी संबंध स्थापित कर लेगा, उसी दिन कविता की कोई सार्थकता न रह जायगी। किसी वाद-विशेष या संप्रदाय-विशेष के द्वारा सत्य के रहस्य का अनुसंधान नहीं हो सकता। उसके द्वारा एकपक्षीय ज्ञान ही संभव है। हिंदी-काव्य-जगत् के लिये वह दिन हमारे विचार से सौभाग्य का होगा, जिस दिन छायावाद और प्रगतिवाद दोनो एक दूसरे के मधुर आलिंगन में बँध जायँगे। उसी समय हम सच्ची कविता का दर्शन कर सकेंगे, जिसमें जीवन के दोनो पक्षों का सम्यक् संतुलन तथा कला का मादक स्पर्श रहेगा।

अंत में यह कह देना अनिवार्य-सा प्रतीत होता है कि हिंदी-काव्य-जगत् को जितना गौरव छायावाद ने प्रदान किया है, उतना अब तक की किसी अन्य धारा ने नहीं।

तप रे मधुर-मधुर मन!
विश्व-वेदना में तप प्रतिपल,
जग-जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष, उज्ज्वल औ' कोमल
तप रे विधुर-विधुर मन!

हृदय के भावुक कवि पंत ने अपनी सजीवता द्वारा कविता में नवीन सुषमा का प्रतिष्ठापन किया है, और नूतन प्राण का संचार, जहाँ जड़ और चेतन मूक न रहकर सवाक् हो गए हैं। उसकी कविता हृदय की मधुरतम रागिनी है। उसमें मानसी ज्ञान का अभाव और कवि-हृदय-चेतना का मधुर सम्मिलन है। कवि ने भी कहा है—

हृदय के प्रणय-कुंज में लीन,
मूक कोकिल का मादक गान,
बहा जब तन-मन बंधन-हीन
मधुरता से अपनी अनजान,
खिल उठी रोओं-सी तत्काल
पल्लवों की यह पुलकित डाल।

पंत की कविता में क्रीड़ा, कौतूहल, मोद, मधुरिमा, हास, विलास, लीला, विस्मय, अस्फुटता, भय, स्नेह, पुलक, सुख और हास-हुलास के सार सन्निहित हैं। वास्तव में पंत की कविता भावाकुल हृदय की भाषा है।

प्रसाद की कविता मानव-जीवन के उत्कर्ष का सुकोमल संगीत है। उसमें प्रेम है, करुणा है, उच्छ्वास है, निराशा है, आशा है, और है वेदना का मधुर दंशन। उसके प्रेम में वासना का पीड़न नहीं, सात्त्विकता का संचरण है। इसीलिये कवि कहता है—

ओ मेरे प्रेम विहँसते !
जागो मेरे मधुवन में ;
फिर मधुर भावनाओं का
कलरव हो इस जीवन में ।

प्रसाद के प्रम में आनंद और स्मित की मीनाकारी है—

खिच जाय अधर पर वह रेखा,
जिसमें अंकित हो मधु-लेखा,
जिसको यह विश्व करे देखा,
वह स्मित का चित्र बना जा रे !

उसका सौंदर्य ऐसा-वैसा नहीं है, बल्कि—

घन में सुंदर बिजली-सी,
बिजली में चपल चमक-सी ;
आँखों में काली पुतली,
पुतली में श्याम झलक-सी ।

प्रसाद के सौंदर्य में नग्नता के बदले अल्प आवरण का आभास मिलता है। आवरण के इधर-उधर से छन-छनकर सौंदर्य की धारा प्रवाहित होती है—

शशि-मुख पर घूँघट डाले,
अंचल में दीप छिपाए ।

प्रसाद की कविता जाग्रत् स्वप्न के मधुर चित्र हैं, तो पंत की कविता उन्मादावस्था के मनोहारी संगीत। यदि पंत में हार्दिक चेतना का संबंध है, तो प्रसाद में बौद्धिक प्रतिभा का सम्मेलन। पंत के भावों में आवेग है, तो प्रसाद में स्थिरता। प्रसाद के भावों की गंभीरता में कमनीय कला के आच्छादन का बहुत बड़ा हाथ है।

'निराला' की कविता का ग्रंथि-बंधन दर्शन से हुआ है। उसमें आध्यात्मिकता का प्रखर उत्ताप है, और माधुर्य-मूलक भावों की शुष्क निर्झरिणी। उसकी कविता में बुद्धिशीलता और अनुभूतिशीलता का हार्दिक सहयोग है, किंतु कहीं-कहीं बुद्धिशीलता का आधिक्य खटकता है। उसकी कविताओं में भावों और संगीत का स्वच्छंद प्रवाह है, जो अबाध गति से आगे बढ़ता जाता है।

'निराला' ने कविता का आदर्श यह रक्खा है—

नश्वर को अविनश्वर करते तत्काल—
तुम अपने ही अमृत-पावन सिंचन से।

किंतु हम नहीं कह सकते, उसकी उपर्युक्त पंक्तियाँ उसकी कविताओं के लिये कितनी उपयुक्त हैं!

'निराला' का कवि प्रकृति-छवि की उपासना कर, उसकी सुषमा पर मुग्ध होकर ब्रह्म की ओर आकृष्ट होता है—

निरंजन बने नयन-अंजन !
आज श्याम-घनश्याम, श्याम छवि,
मुक्त-कंठ है तुम्हें देख कवि,
अहो कुसुम-कोमल, कठोर-पवि !
शत सहस्र नक्षत्र-चंद्र-रवि-संस्तुत,
नयन-मनोरंजन !
बने नयन-अंजन !

महादेवी तथा द्विज के हृदय में वेदना तथा विषाद के लिये जितना स्थान है, उतना उल्लास और आनंद के लिये नहीं। द्विज की कविता यदि व्यथित हृदय का आकुल क्रंदन है, तो महादेवी की कविता वेदना-शक्ति का करुणतम निदर्शन। यदि महादेवी में बुद्ध की करुण आध्यात्मिकता का प्राचुर्य है, तो द्विज में सरस, सुंदर, अनुभूति-पूर्ण स्वाभाविकता का। महादेवी वर्मा अपने अस्तित्व की लय को अमरता से अधिक समझती हैं—

जब असीम से हो जाएगा
मेरी लघु-सीमा का मेल,
देखोगे, तुम देव ! अमरता
खेलेगी मिटने का खेल।

कवयित्री प्रकृति को उपासक और आराध्य के मधुर मिलन की स्मृति मानती है, जो सम्मेलन अज्ञात काल में हुआ था, और जिसके कारण सारी प्रकृति एक बार खिलखिलाकर हँस उठी थी। देखिए—

कैसे कहती हो, सपना है
अलि! उस मूक मिलन की बात ?
भरे हुए अब तक फूलों में
मेरे आँसू, उनके हास !

द्विज के कवि ने प्रियतम के विरह से उद्भूत पीड़ा को उपहार समझ लिया है। उसे उसी में आनंद मिलता है। तृप्ति मिलती है—

निष्ठुर पीड़न ही है मेरी
मधुर प्रीति का प्रिय उपहार।

भगवतीचरण में प्रेमानुभूति का जितना प्राचुर्य है, उतना अन्य भावों के लिये स्थान नहीं है। उसकी कविता में प्रेमोच्छ्वास है, क्रंदन है, अनुरोध है, असफल हृदय की आह है, और है प्रेममयी मनुहार। उसके श्रृंगार में मधुरिमा है, मृदुलिमा है, और अशांत हृदय की प्रखर उठान है। विगत काल के मधुर मिलन की स्मृति उसे बार-बार सताती है—

किस तरह भुला दूँ आज हाय,
कल की ही तो है बात प्रिये !

रामकुमार की कविता में अध्ययनशीलता का आधिक्य तथा भावुकता का अनाधिक्य है। उसमें हार्दिक सौंदर्य की अपेक्षा मानसी सौंदर्य की प्रमुखता है। मानव-जीवन की

नीरवता तथा उसकी करुण अभिव्यक्ति की ओर कवि-हृदय विशेषोन्मुख है। कवि को हम कहते पाते हैं—

जीवन है करुणामय प्रवास,

और—

जीवन ही करुण-कथा है।

जगत् को भी वह जल-जलकर मरने का स्थान मानता है—

यह तो है संसार, यहाँ पर
जल-जलकर ही मर जाना है।

'वियोगी' की कविता दर्शन के उलझे-सुलझे भावों का असंवारित रूप है—वह रहस्योन्मुख संकेत है। कवि के शैव होने के कारण उसकी भावनाओं में साकारात्मकता का आभास मिलता है। उसके अंतस्तल में "सोऽहम्-सोऽहम्" का राग गूँजता है। वह आत्मलय के लिये पागल-सा हो उठा है। उसे उसी में आनंद और तृप्ति मिलेगी, ऐसा उसका विश्वास है। उसी विश्वास का प्रतिफल—

ढले-ढले, हाँ, ख़ूब ढले,
दस-बीस पात्र ख़ाली कर दो।
यह लो प्रिये ! पी लिया,
इस प्याले में द्राचा-रस भर दो।

और—

तू भर-भरकर पिला,
बने जिससे ये आँखें गुल्लाला।
चढ़े मज़े में नशा, अहा !
भरती जा प्याले पर प्याला।

इन छायावादी कवियों के सुविधानुसार दो विभाग किए जा सकते हैं, किंतु इस श्रेणी-विभाजन में सभी कवियों का समुचित रूप से, साँचे की वस्तु के समान, समावेश होना कुछ कठिन है। फिर भी मूलधारा को दृष्टि में रखकर बहुत कुछ श्रेणी-विभाजन में सफलता मिल सकती है। पहली श्रेणी के कवियों में उनकी परिगणना होगी, जिनकी कविताओं में भावुकता का स्रोत उमड़ा पड़ता है, और दर्शन की उलझनमयी गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न नहीं दिखाई पड़ता। यद्यपि उसमें दार्शनिक भावों का अभाव नहीं रहता, तथापि वे कविता के मधुर, सुकोमल अंचल के नीचे ढँके रहते हैं। दूसरी श्रेणी के कवियों में भावुकता की अपेक्षा दार्शनिक भावों का प्राचुर्य रहता है, जो कविता में एकरस न होकर इधर-उधर बिखरे मालूम पड़ते हैं, और अनुशीलन से कवि की अत्यधिक मननशीलता परिलक्षित होती है। प्रथम श्रेणी में प्रसाद, पंत, द्विज तथा भगवतीचरण वर्मा आएँगे, और दूसरी श्रेणी में 'निराला', महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा तथा 'वियोगी' की गणना की जायगी। महादेवी वर्मा में दार्शनिक भावों का सन्निवेश तो है, किंतु उसमें शुष्कता तथा नीरसता की झलक नहीं मिलती। उसकी कविता की गंभीरता का एक प्रमुख कारण भावों की अभिव्यंजना की प्रणाली है। 'निराला', 'वियोगी' तथा रामकुमार वर्मा में अध्ययनशीलता का स्पष्ट रूप में परिचय मिलता

हैं। 'निराला' तथा 'वियोगी' की अधिकांश कविताओं में दार्शनिक उलझनों की प्रचुरता दिखाई पड़ती है, जिनमें सरसता से अधिक नीरसता तथा शुष्कता है। रामकुमार वर्मा में कवि-प्रतिभा का अनाधिक्य होते हुए भी उसकी कविताएँ एकदम नीरस नहीं बन गई हैं। यद्यपि उसकी कविताओं में दार्शनिक भावनाओं की प्रबलता नहीं, तथापि बुद्धिशीलता स्पष्ट होकर झलक पड़ती है। महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा और 'वियोगी' का बाह्य रूप छायावादी है, और अभ्यंतर रहस्यवादी। इन लोगों के अतिरिक्त बहुत-से अन्य छायावादी कवि हैं, जिनकी प्रतिभा तथा कला-कुशलता द्वारा हिंदी-साहित्य गौरवान्वित है।

छायावाद और शृंगारिकता

प्रेम द्वारा मानव-हृदय में सजीवता तथा सरसता का स्रोत प्रवाहित होता है, और उसके अभाव में जगत् और जीवन नीरस तथा शुष्क प्रतीत होता है। प्रेम की भावना जीवन की वह शक्ति है, जिसका संचालन अखिल विश्व की धमनियों में होता है। हृदय की जितनी वृत्तियाँ हैं, उनमें प्रेम की विस्तृति तथा प्रसारण सभी की अपेक्षा अधिक होता है। अन्य मनोवृत्तियों का क्षेत्र संकुचित है, इसका विस्तृत। प्रेम पति और पत्नी की पारस्परिक रति तक ही सीमित नहीं है, बल्कि वही अपत्य के प्रति वात्सल्य, गुरुजन के प्रति श्रद्धा, सेवकों के प्रति उदारता, मित्र के प्रति स्नेह और देवता के प्रति भक्ति के अंतर्भूत भी समाविष्ट है। प्रेम की विस्तृति मानव-समुदाय तक ही नहीं है, वरन् प्रकृति की सभी वस्तुओं के साथ उसका घनिष्ठतम संबंध है। दांपत्य प्रेम इस दशा तक पहुँचाने में अत्यधिक समर्थ है। अन्य प्रेम हमें भाव-दशा तक ही पहुँचाकर रह जाता है। यही दांपत्य रति शृंगार का स्थायी भाव है। शृंगार के दो भेद—संयोग और वियोग—होने के कारण मानव-हृदय की अधिक-से-अधिक वृत्तियों के रमने का विस्तृत क्षेत्र तैयार हो जाता है।

प्रेम के दो पक्ष हैं—लौकिक और ऐकांतिक। लौकिक प्रेम में सामाजिक जीवन के प्रति अनुराग की भावना रहती है, तथा प्रिय और प्रेमी के प्रेम की वृद्धि एवं विस्तार लोक-धर्म के आधार पर होता है। ऐकांतिक प्रेम सामाजिक जीवन के साथ सहयोग नहीं देता, वह समाज की अपेक्षा नहीं करता। प्रिय और प्रेमी की वृत्तियाँ जगत् से उदासीन रहकर अपनी संकुचित परिधि में आबद्ध रहती हैं। लोक-धर्म का मर्यादा-पालन उसे अभीष्ट नहीं रहता। प्रिय और प्रेमी समाज से दूर किसी कोने में प्रेमालाप में आत्मविभोर रहते हैं। उनका ध्यान अपने प्रेम के अतिरिक्त अन्य विषयों पर नहीं जाता। हिंदी-साहित्य में ऐकांतिक प्रेम का बाहुल्य है। कृष्ण-काव्य में प्रेम की यही ऐकांतिकता परिलक्षित होती है। मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के चरित्र में लौकिक जीवन के प्रति जितना ही आग्रह है, उतनी ही उपेक्षा का दर्शन कृष्ण-काव्य में होता है। हिंदी में ऐकांतिक प्रेम की बहुलता के मुख्य कारण हैं—कृष्ण-भक्त कवियों का ऐकांतिक तथा लोक-बाह्य प्रेम और फ़ारसी-साहित्य का प्रभाव। फ़ारसी-साहित्य ऐकांतिक प्रेम के उदाहरणों से परिपूर्ण है। लैला-मजनू और शीरीं-फ़रहाद की कहानी तो लोक-प्रसिद्ध ही है। इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐकांतिक प्रेम की अपेक्षा लोकबद्ध प्रेम का अधिक महत्त्व है, क्योंकि वह जीवन के मार्ग को सरस तथा रमणीक बना देता है। छायावाद भी प्रेम की ऐकांतिकता से ही अनु-

प्राणित है। यह स्फुट कविताओं का युग है। प्रबंध-काव्य की ओर कवियों की रुचि कम है। अतएव मुक्तक काव्य में लोक-जीवन से संश्लिष्ट प्रेम की व्यंजना का अवसर नहीं मिलता।

प्रेम में अद्भुत शक्ति वर्तमान है, जिससे पर्वत के समान स्थिर एवं गंभीर व्यक्ति का हृदय भी चंचलता से भर उठता है, और चंचल चित्त में भी जीवन के नवीन उत्तरदायित्व के प्रति स्थिरता का भाव जाग्रत् होता है। उसके सम्मुख प्रस्तर की कठोरता पिघलकर मनोहर निर्झर तथा भीषण एवं कठोर वज्र अपना प्रकृत गुण त्यागकर कोमल एवं मृदुल बन जाता है। उसमें एक साथ ही इतने गुणों का समुच्चय है—

अचल हो उठते हैं चंचल
चपल बन जाते हैं अविचल,
पिघल पड़ते हैं पाहन-दल,
कुलिश भी हो जाता कोमल।

—पंत

प्रेम का मार्ग जितना ही सरल एवं सुंदर मालूम पड़ता है, वह उतना ही कठिन एवं अनोखा है। उसमें एक साथ ही आनंद का हास है, और वेदना-जन्य विषाद का अश्रु भी। जब तक कोई अपनी सत्ता भूलकर सिर से पैर तक प्रेममय नहीं हो जाता, तब तक उसे अपनी लक्ष्य-सिद्धि में सफलता नहीं मिल सकती। जीवन की तिक्त निराशा एवं असफलता

की तथा प्रेम-मार्ग की विभिन्न बाधाओं की परवा प्रेम-पथिक नहीं किया करते। वे अपने पथ की ओर बढ़ते ही चले जाते हैं। उनके पैर काँटों से जर्जर हो उठते हैं, किंतु वे प्रेम-जनित आगत सुख की कल्पना में विस्मृत-से रहते हैं—

पथिक, प्रेम की राह अनोखी,
भूल - भूलकर चलना है ;
घनी छाँह है जो ऊपर, तो
नीचे काँटे बिछे हुए।

—प्रसाद

सच्चा प्रेम चिरस्थायी होता है। जिस प्रेम की भित्ति वासना एवं रूप-लोभ पर आधारित रहती है, वह संध्या के अरुणाभ बादल के समान क्षण-भर चमककर अंधकार की कंदरा में विलीन हो जाता है। सच्चे प्रेम में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं होता। हृदय में प्रेम-स्रोत फूटते ही वह निरंतर प्रवाहित होता है, उसकी धारा कभी सूखती नहीं। सच्चा प्रेम उस नीलाकाश के समान गंभीर तथा एकरस रहता है, जो मूक होकर, तन्मय होकर पृथ्वी को हमेशा चूमता रहता है—

प्रीति न अरुण साँझ के घन सखि !
पल - भर चमक बिखर जाते जो,
मना कनक - गोधूलि - लगन सखि !
प्रीति न अरुण साँझ के घन सखि !

प्रीति नील, गंभीर गगन सखि !
चूम रहा जो विनत धरणि को,
निज सुख में नित मूक-मगन सखि !
प्रीति नील, गंभीर गगन सखि !

—दिनकर

सच्चा अनुराग किसी प्रकार भी विचलित नहीं हो सकता। आपदाओं, बंधनों, यातनाओं और कठिनाइयों की परवा न कर वह आगे ही बढ़ता जायगा। जिस प्रकार पुष्प से सौरभ का, दिनकर से किरण का अविच्छेद्य संबंध है, उसी प्रकार प्रेम का हृदय से।

काव्य-प्रेरणा के मूल में प्रेम-भावना का विशेष हाथ रहता है। जगत् के अधिकांश कवियों की सुप्त काव्य-प्रतिभा को प्रेम ने ही जाग्रत् किया है। वस्तुतः प्रेम में ऐसी क्षमता विद्यमान है, जिसके द्वारा मानव-हृदय तो क्या, प्रस्तर तक भी द्रवित हो जाता है। कवि के प्रिय ने भी उसे रूप-सौंदर्य की पूजा करना सिखाया, और वह उसमें पूर्णतया लीन हो गया। सौंदर्य की उपासना में मानव-हृदय जब विह्वल तथा आकुल होकर अपने मनोभावों को ताल, स्वर, शब्द-तूलिका, छेनी आदि के द्वारा अभिव्यंजित करता है, तब भिन्न-भिन्न कलाओं की ष्टि होती है। प्रेम का प्रथम आधार सौंदर्य ही है। पहले य रूप की ओर आकृष्ट होता है, और आगे चलकर वही प्रेम में परिवर्तित हो जाता है। कवि के प्रेम का जन्म

भी सौंदर्याकर्षण से हुआ है, और धीरे-धीरे उसमें प्रगाढ़ता आई है। इसीलिये उसने स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित किया है कि प्रिय के प्रेम ने ही उसकी कवि-प्रतिभा को चेतना प्रदान की है। उसके अभाव में उसका कवि होना असंभव था—

रूप की पूजा सिखाकर रूपमय तुमने बनाया,
तव दृगों में प्राण, अपना ही तरल प्रतिबिंब पाया!
खींचकर लाया तुम्हीं ने अरक-तरु से कल्प-वन में,
सुनहरा संसार तृष्णा के विजन मरु में बसाया!
तुम न करतीं आज मुझसे प्रेम यदि, तो सच कहूँगा,
पूर्णिमे, यह पांथ होता कवि नहीं, अविकल उदासी!

—आरसी

और, सबसे महत्त्व-पूर्ण प्रेम वह है, जिसकी जानकारी प्रिय को तो नहीं होती, किंतु प्रेमी उसके पीछे घुल-घुलकर मरता है, आहें छोड़ता है, जिंदगी के दिन काटता है। संभवतः उसे विश्वास रहता है—उसके पवित्र प्रेम के अदृश्य आकर्षण-सूत्र में बँधकर प्रिय स्वयं आत्मसमर्पण करने को एक दिन प्रस्तुत हो जायगा। आशा का यही कोमल धागा उसके प्रेम का परिपोषण करता है, किंतु प्रेम-प्राप्ति की उत्कंठा में वह पागल नहीं रहता, वह तो उसकी आशा छोड़कर ही अपने हृदय में प्रेम पालता है। हाँ, उसके अंतर्मन में अयाचित प्रेम पाने की भावना अवश्य छिपी रहती है—

प्रीति नील, गंभीर गगन सखि !
चूम रहा जो विनत धरणि को,
निज सुख में नित मूक-मगन सखि !
प्रीति नील, गंभीर गगन सखि !

—दिनकर

सच्चा अनुराग किसी प्रकार भी विचलित नहीं हो सकता। आपदाओं, बंधनों, यातनाओं और कठिनाइयों की परवा न कर वह आगे ही बढ़ता जायगा। जिस प्रकार पुष्प से सौरभ का, दिनकर से किरण का अविच्छेद्य संबंध है, उसी प्रकार प्रेम का हृदय से।

काव्य-प्रेरणा के मूल में प्रेम-भावना का विशेष हाथ रहता है। जगत् के अधिकांश कवियों की सुप्त काव्य-प्रतिभा को प्रेम ने ही जाग्रत् किया है। वस्तुतः प्रेम में ऐसी क्षमता विद्यमान है, जिसके द्वारा मानव-हृदय तो क्या, प्रस्तर तक भी द्रवित हो जाता है। कवि के प्रिय ने भी उसे रूप-सौंदर्य की पूजा करना सिखाया, और वह उसमें पूर्णतया लीन हो गया। सौंदर्य की उपासना में मानव-हृदय जब विह्वल तथा आकुल होकर अपने मनोभावों को ताल, स्वर, शब्द-तूलिका, छेनी आदि के द्वारा अभिव्यंजित करता है, तब भिन्न-भिन्न कलाओं की सृष्टि होती है। प्रेम का प्रथम आधार सौंदर्य ही है। पहले मनुष्य रूप की ओर आकृष्ट होता है, और आगे चलकर वही रूप-लोभ प्रेम में परिवर्तित हो जाता है। कवि के प्रेम का जन्म

भी सौंदर्याकर्षण से हुआ है, और धीरे-धीरे उसमें प्रगाढ़ता आई है। इसीलिये उसने स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित किया है कि प्रिय के प्रेम ने ही उसकी कवि-प्रतिभा को चेतना प्रदान की है। इसके अभाव में उसका कवि होना असंभव था—

रूप की पूजा सिखाकर रूपमय तुमने बनाया,
तव दृगों में प्राण, अपना ही तरल प्रतिबिंब पाया !
खींचकर लाया तुम्हीं ने अरक-तरु से कल्प-वन में,
सुनहरा संसार तृष्णा के विजन मरु में बसाया !
तुम न करतीं आज मुझसे प्रेम यदि, तो सच कहूँगा,
पूर्णिमे, यह पांथ होता कवि नहीं, अविकल उदासी !

—आरसी

और, सबसे महत्त्व-पूर्ण प्रेम वह है, जिसकी जानकारी प्रिय को तो नहीं होती, किंतु प्रेमी उसके पीछे घुल-घुलकर मरता है, आहें छोड़ता है, जिंदगी के दिन काटता है। संभवतः उसे विश्वास रहता है—उसके पवित्र प्रेम के अदृश्य आकर्षण-सूत्र में बँधकर प्रिय स्वयं आत्मसमर्पण करने को एक दिन प्रस्तुत हो जायगा। आशा का यही कोमल धागा उसके प्रेम का परिपोषण करता है, किंतु प्रेम-प्राप्ति की उत्कंठा में वह पागल नहीं रहता, वह तो उसकी आशा छोड़कर ही अपने हृदय में प्रेम पालता है। हाँ, उसके अंतर्मन में अयाचित प्रेम पाने की भावना अवश्य छिपी रहती है—

प्यार तो उसने किया है,
प्यार को जिसने छिपाया।

—बच्चन

मानवीय विकारों में प्रेम को प्रथम स्थान दिया जाता है, क्योंकि उसमें अन्य मनोविकारों की अपेक्षा अधिक विशेषताएँ समन्वित हैं। वैज्ञानिकों के आविष्कार हमारे आश्चर्य का, विश्व-बंधुत्व की भावना क्रोध, भय एवं उत्साह का, वेदांत की शिक्षा हास और जुगुप्सा का और गीता का श्लोक दया का विनाश कर सकता है, किंतु प्रेम को भुलाने की सामर्थ्य किसी में भी नहीं है। प्रेम की सुरक्षा के द्वारा हम बहुत-सी मनोवृत्तियों को जीवित रखने में सक्षम हो सकते हैं। प्रिय की पीड़ा देखकर हमारा हृदय करुणा से द्रवित हो जाता है, प्रिय को दुःख पहुँचानेवाला हमारे क्रोध का शिकार बनता है, प्रिय की प्रिय वस्तु के अभाव की भावना होते ही उसे पाने, पास रखने तथा रक्षा करने के लिये हम तत्पर हो जाते हैं, प्रिय पर आनेवाली विपत्ति हमारे हृदय में भय का सृजन करती है, प्रिय को आनंदित देखने के लिये हम कठिन स्थिति का सामना साहस-पूर्ण आनंद के साथ करते हैं, और प्रिय की असभ्यता तथा त्रुटि से हमारा सिर लज्जावनत हो जाता है। अतएव प्रेम की महत्ता, उसकी उत्कृष्टता को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। यही कारण है, कवि प्रेम-विहीन

हृदय को पत्थर के समान समझता है, किंतु यह भी नहीं भूलता कि प्रेम का पथ सुगम नहीं, दुर्गम है—

प्रेम की मधु वेदना से
जो न तड़पा, वह नहीं उर;
वह कठिन पाषाण, जिस पर
प्रेम का फूटा न अंकुर!
किंतु यह भी सच कि यह पथ
पुष्प-सा विकसित नहीं है!

—आरसी

प्राय: सभी साहित्यों में संयोग-शृंगार की न्यूनता तथा वियोग की प्रचुरता परिलक्षित होती है। संयोग की कालिमा का प्रक्षालन वियोग द्वारा ही होता है। प्रेम की वेदना को विद्वानों ने मधुर सौंदर्य कहा है। प्रेम-जन्य वेदना का वियोग में प्रतिफलन होता है। वियोग हृदय के प्रत्येक तंतु में स्पंदन भर देता है। उसमें प्रेम-वृत्ति का अधिक प्रसार होता है। यहाँ तक कि चराचर में भी आत्मीयता का बोध होने लगता है। इसीलिये वियोग में वियोगी अपनी दु:ख-गाथा पेड़-पौधे तथा पशु-पक्षी को सुनाते चलता है। वियोग की मार्मिक वेदना में प्रवाहशीलता तथा सजीवता रहती है। दूसरे के सुख की अपेक्षा उसके दु:ख में हमारी रागात्मिका वृत्ति को अधिक तन्मयता प्राप्त होती है। दुख से आपूरित रहने के कारण वियोग अधिक महत्त्व-पूर्ण हो जाता है।

वियोग-विगलित हृदय का मधुर स्वर काव्य का रूप ग्रहण करता है, क्योंकि उसकी मार्मिकता मनुष्य को साधारण स्तर से ऊपर उठाकर तन्मय कर देती है। इसीलिये कवि के विश्वास का स्वर फूट पड़ा है—

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान ;
निकलकर आँखों से चुपचाप
वही होगी कविता अनजान।

—पंत

प्रेमी के जीवन में कभी-कभी ऐसा भी अवसर आता है, जब उसे प्रणय-जनित विषाद कष्टकर प्रतीत होता है। उस समय उसे अपने प्रेम पर पश्चात्ताप होता है, क्योंकि सभी दुखों की अवतारणा उसी के कारण हुई है। यदि वह प्रेम-पाश में न बँधता, तो ऐसी संकटापन्न परिस्थिति का सामना उसे न करना पड़ता। इसीलिये वह प्रेम को अभिशाप समझता है। यह मनोदशा स्वाभाविक ही है। दुःखाधिक्य में इस प्रकार की भावना का आविर्भाव सर्वथा उचित है—

प्रेम ? एक अभिशाप—एक
चीत्कार - भरा सपना है ;
मौन-मौन इस मूक चिता में
तिल - तिल कर तपना है।

—अंचल

और—

"है प्रेम भूल सपने की।"

—भगवतीचरण वर्मा

इतना ही नहीं, वेदना से पीड़ित होकर उसकी तुलना सर्प-दंश से करने लगता है—

डँसता अहि बन कर सतत प्यार!

—द्विज

उसे विश्वास होता है, दुनिया का प्रत्येक रज-कण विकलता से भरा है, फिर मिलन की आशा सँजोना एकदम ही व्यर्थ है। अतएव हृत्तंत्री झंकृत हो उठती है—

रो रहा विरही अकेला—
देख तन का मिलन-मेला,
पर जगत में दो हृदय के
मिलन की आशा विफल है।
हर जगह जीवन विकल है।

—बच्चन

संयोग में प्रत्येक वस्तु सुखद प्रतीत होती है। प्रिय के साहचर्य-काल में मधुमासवाली कोयल की काकली मधुर मालूम होती है, स्वाति-बूँद के लिये आकुल पपीहा का पी-पी स्वर हृदय को उद्वेलित करता है, पावस का रिमझिम, श्यामल घन एवं हरित वन उत्तेजना देता है, किंतु वियोग में वे ही विष-से प्रतीत होते हैं। इसीलिये सावन की हरियाली

देखकर कवि के 'दिल के फोले' हरे हो गए हैं, और उसे मर्मांतक टीस से विकल बना रहे हैं—

अपनी बात कहूँ क्या, मेरी
भाग्य-लीक प्रतिकूल हुई ;
हरियाली को देख आज फिर
हरे हुए दिल के फोले।

—दिनकर

प्रेम की अप्राप्ति पर प्रेमी का दिल हाहाकार कर उठता है। उसकी हृदय-वीणा से—'मुझको न मिला रे कभी प्यार' की विकल ध्वनि निःसृत होने लगती है, किंतु तुरंत ही उसका मन समाधान कर उठता है—पागल, प्यार पाने की चीज़ नहीं, देने की है। दुनिया के सभी प्रेमी आत्मसमर्पण इसलिये नहीं करते कि उसके बदले में उन्हें भी हृदय मिले। प्रेम देना उनका कर्तव्य है। चातक की पिपासा, पतंग की दीपक पर झुलसने की लगन और चकोर की चंद्र को आँखों में पी जाने की अभिलाषा चिरस्थायी है। उनकी पिपासा सतत बनी ही रहती है। तृप्ति तो प्रेम को निस्पंद कर देती है। फिर वह उसके लिये विह्वल क्यों हो ? उसे तो हृदय देने तक ही मतलब है। वह पाने की चिंता क्यों करे ? वस्तुतः सच्चा प्रेम प्रतिदान नहीं चाहता—

पागल रे ! वह मिलता है कब,
उसको तो देते ही हैं सब।

आँसू के कन-कन से गिनकर
यह विश्व लिए है ऋण उधार,
तू क्यों फिर उठता है पुकार ?—
मुझको न मिला रे कभी प्यार !

—प्रसाद

रीति-काल तथा छायावाद-युग के कवियों ने वासना का वर्णन किया है, किंतु दोनो की प्रवृत्ति और रूप में अंतर है। एक पार्थिव तथा कुत्सित है, तो दूसरा सूक्ष्म तथा स्पृहणीय। एक की वासना संस्कार और परंपरा को आधार मानकर आगे बढ़ती है, तो दूसरे की तारुण्य के सूक्ष्म भावों को। छायावादी कवियों की वासना में सौंदर्याकर्षण की उस वैयक्तिक भावना का—जिसका प्रसार रीति-काल में था—अभाव है। यद्यपि छायावादी काव्य के सौंदर्य का आधार पुराना ही है, तथापि उसमें नवीनता का समावेश है, तथा सत्यता की कमी नहीं है। अतएव छायावाद में वासना ने पार्थिवता-संयुक्त विकराल रूप धारण नहीं किया है। प्रेम के पुजारी होने के कारण छायावादी कवियों में वासना की मूर्तिमत्ता प्रकट होती है, लेकिन उनमें रीतिकालीन वासना के उग्रतम घोष का सर्वथा अभाव है। जो रीतिकालीन वासना का आरंभ स्थल है, वह छायावाद की वासना की समाप्ति है। उसके पास "राति की केलि अघाने नहीं, दिन हूँ में लला पुनि घात लगाई।" "जोग हू से कठिन सँजोग पर-नारी को।" आदि कहकर कामुकता-

प्रचार करने का साहस नहीं है, किंतु इतना तो छायावादी कवियों में अवश्य मिलता है, जैसे—

(१) तुमने अधरों पर धरे अधर,
मैंने कोमल वपु भरा मोद,

—पंत

(२) परिरंभ-कुंभ की मदिरा,
निःश्वास मलय के झोंके,
मुख-चंद्र-चाँदनी जल से
मैं उठता था मुँह धोके।

—प्रसाद

(३) सतत ढारता था जिस पर तू
निज नंदन-सौरभ-निःश्वास।

—द्विज

(४) कर लो निज प्यासे अधरों से
प्यासे अधरों का मोल प्रिये!

—भगवतीचरण वर्मा

(५) 'गाल मेरे लाल कर दो',
'भर दो मेरे रंध्र-रंध्र में
किसी किशोरी का चुंबन।'

—आरसी

और—(६) पिएँ अभी मधुराधर चुंबन,
गात-गात गूँथें आलिंगन;

सुने अभी अभिलाषा अंतर
मृदुल उरोजों का मृदु कंपन ।

—नरेन्द्र

फिर भी इनमें रीतिकालीन वीभत्सता का अभाव है। चुंबन और आलिंगन तो प्रेम को स्थायित्व प्रदान करते हैं, किंतु उनके मूल में विशुद्ध प्रेम-भावना सन्निहित रहनी चाहिए, क्योंकि भाव के अनुसार ही कार्य और क्रिया को आदर और निरादर मिला करता है।

छायावाद में अत्यधिक शृंगारिकता के कारण वासना का जो रूप मिलता है, उसका दोष केवल कवियों पर ही नहीं मढ़ा जा सकता, क्योंकि कवि समाज की धारणा तथा रुचि की, समय की विभिन्न स्थितियों की उपेक्षा नहीं कर सकता। काव्य-प्रणयन के मूल में केवल कवि की आकांक्षा ही नहीं, पाठक-समाज की प्रवृत्ति भी सन्निहित रहती है। समाज की भावना, उसकी अभिरुचि के एकदम विरुद्ध कोई कलाकार अपनी कला का निर्माण नहीं कर सकता। लोक-रुचि की बग़ल होकर ही उसका मार्ग जाता है। मनुष्य की जन्मजात यौन-वृत्ति का—नर-नारी के आकर्षण-विकर्षण का बहुत महत्त्व है। हमारे जीवन, सभ्यता और संस्कृति पर उसका बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। किंतु उस प्रवृत्ति के दमन से भयंकर प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, और हम यौन-वृत्ति-संबंधी अतृप्त वासना की चरितार्थता के लिये अनसर्गिक उपायों का अवलंबन करने लगते हैं। दमन

प्रचार करने का साहस नहीं है, किंतु इतना तो छायावादी कवियों में अवश्य मिलता है, जैसे—

(१) तुमने अधरों पर धरे अधर,
मैंने कोमल वपु भरा मोद,
—पंत

(२) परिरंभ-कुंभ की मदिरा,
निःश्वास मलय के झोंके,
मुख-चंद्र-चाँदनी जल से
मैं उठता था मुँह धोके।
—प्रसाद

(३) सतत डारता था जिस पर तू
निज नंदन-सौरभ-निःश्वास।
—द्विज

(४) कर लो निज प्यासे अधरों से
प्यासे अधरों का मोल प्रिये!
—भगवतीचरण वर्मा

(५) 'गाल मेरे लाल कर दो',
'भर दो मेरे रंध्र-रंध्र में
किसी किशोरी का चुंबन।'
—आरसी

और—(६) पिएँ अभी मधुराधर चुंबन,
गान-गात गूँथें आलिंगन;

सुने अभी अभिलाषा अंतर
मृदुल उरोजों का मृदु कंपन ।

—नरेन्द्र

फिर भी इनमें रीतिकालीन वीभत्सता का अभाव है। चुंबन और आलिंगन तो प्रेम को स्थायित्व प्रदान करते हैं, किंतु उनके मूल में विशुद्ध प्रेम-भावना सन्निहित रहनी चाहिए, क्योंकि भाव के अनुसार ही कार्य और क्रिया को आदर और निरादर मिला करता है।

छायावाद में अत्यधिक शृंगारिकता के कारण वासना का जो रूप मिलता है, उसका दोष केवल कवियों पर ही नहीं मढ़ा जा सकता, क्योंकि कवि समाज की धारणा तथा रुचि की, समय की विभिन्न स्थितियों की उपेक्षा नहीं कर सकता। काव्य-प्रणयन के मूल में केवल कवि की आकांक्षा ही नहीं, पाठक-समाज की प्रवृत्ति भी सन्निहित रहती है। समाज की भावना, उसकी अभिरुचि के एकदम विरुद्ध कोई कलाकार अपनी कला का निर्माण नहीं कर सकता। लोक-रुचि की बगल होकर ही उसका मार्ग जाता है। मनुष्य की जन्मजात यौन-वृत्ति का—नर-नारी के आकर्षण-विकर्षण का बहुत महत्त्व है। हमारे जीवन, सभ्यता और संस्कृति पर उसका बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। किंतु उस प्रवृत्ति के दमन से भयंकर प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, और हम यौन-वृत्ति-संबंधी अतृप्त वासना की चरितार्थता के लिये अनसर्गिक उपायों का अवलंबन करने लगते हैं। आज

की उस प्रतिक्रिया को समुन्नत रूप देने से साहित्य, संगीत आदि विभिन्न कलाओं का विकास होता है। समाज में यौन-प्रवृत्ति के दमन की अनिवार्यता के कारण कवियों ने अपनी अत्यधिक शृंगारिकता द्वारा लोगों में उसकी समुन्नत प्रतिक्रिया की प्रवृत्ति जगाने का प्रयत्न किया है। इसके साथ ही कवि भी उसी समाज में पलकर बड़ा है। अतएव यह कहना अयुक्ति-संगत न होगा कि छायावाद भी अत्यधिक शृंगारिकता में समाज की यौन-वृत्ति की प्रतिक्रिया की भी प्रेरणा है। इसके अतिरिक्त और भी कारण हैं। प्रेम के संयोग-पक्ष में कुछ-न-कुछ वासना का आगमन हो ही जाता है, जिसकी कालिमा धोने के लिये वियोग अपनी पवित्र धारा लेकर हमेशा तैयार रहता है। छायावादी कविता द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता के प्रति भावुकता का विद्रोह है। अतएव छायावाद-युग में द्विवेदी-काल के पार्थिव सौंदर्य, रूखी-सूखी उपदेशात्मक वाणी और शृंगारिकता-बहिष्कार के प्रति विद्रोह की भावना का प्राबल्य देखने को मिलता है। शृंगारिकता-बहिष्कार के प्रति शृंगारिकता के पोषण-भाव की प्रतिक्रिया के कारण भी छायावाद-युग के कवियों की कविता में अत्यधिक शृंगारिकता पाई जाती है।